देश-सेवकों के संस्मरण

—महात्मा गांधी की कलम से—

संपादक

विष्णु प्रभाकर

१९५८

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली।

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद की सहमति से

पहली बार . १९५८

मूल्य
एक रुपया २५ नये पैसे

मुद्रक
नशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

प्रकाशकीय

अपने समय के छोटे-बडे अनेक देश-सेवको और सेविकाओ के विषय मे गाधीजी ने बहुत ही भावपूर्ण सस्मरण लिखे है। थोडे-से-थोडे शब्दो में उन्होने ऐसे चित्र खीचे है कि पढकर हृदय गद्गद् हो जाता है। कही-कही तो ऐसा जान पडता है, मानो हम कोई कविता पढ रहे हो। जब शब्द हृदय की गहराई मे से उठकर आते है तब प्राय. ऐसा ही होता है।

गाधीजी के लिखे इन सस्मरणो का एक विस्तृत सग्रह 'मेरे समकालीन' के नाम से 'मडल' से प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री उसी-मे से ली गई है। बडे सग्रह मे कुछ ऐसे व्यक्तियो के भी सस्मरण आ गये है, जो सौभाग्य से आज हमारे बीच विद्यमान है। इस पुस्तक मे केवल दिवगतो मे से ही कुछ चुने हुए सस्मरण लिये गये है। इन सस्मरणो को पढकर पाठकों को बहुत से देश-सेवको का परिचय मिलेगा, वह भी ऐसे महापुरुष की कलम से, जिसके स्वय के जीवन का प्रत्येक क्षण सेवा में ही व्यतीत हुआ था। वैसे तो इस पुस्तक को जो भी पढेगा, उसीको लाभ होगा, लेकिन युवको के लिए तो यह बहुत ही उपयोगी है।

हमें आशा है, प्रत्येक शिक्षा-सस्था के छात्र और छात्राओ के हाथ में यह पुस्तक पहुचेगी और वे इससे देश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगे।

—मंत्री

आमुख

प्रसिद्ध गायक श्री दलीपकुमार राय से बातचीत करते हुए सन् १९३४ मे गांधीजी ने कहा था—"जीवन समस्त कलाओ से श्रेष्ठ है। मै तो समझता हू कि जो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की भूमिका के बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है। कला के मूल्य का आधार है जीवन को उन्नत बनाना। जीवन ही कला है।"[1] साहित्य को इस दृष्टि से कला से अलग नही किया जा सकता। जीवन से इतना अटूट सबध हो जाने के बाद वह नितात सरल और सुगम हो जाता है। कदाचित एसे ही साहित्य को दृष्टि में रखकर गाधीजी ने इन्ही श्री राय से कहा था, "वही काव्य और वही साहित्य चिरञ्जीवी रहेगा जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे, जिसे वे आसानी से पचा सकेंगे।" ऐसे साहित्य का सृजन वही कर सकता है, जिसने साहित्य के विषय से साक्षात्कार कर लिया है, अर्थात् जो उसे जीता है। इसीको गाधीजी की भाषा में यों कह सकते है कि जो अच्छी तरह जीना जानता है, वह साहित्यिक है। इस दृष्टि से वह एक ऊचे साहित्यिक थे। निस्सदेह वह एक साहित्यिक के नाते आगे नही आये, और न उन्होंने कभी कवि, कथाकार या आलोचक होने का दावा ही किया; परंतु फिर भी जहातक जीवनी-साहित्य, आत्मकथा, शब्दचित्र और सस्मरण आदि का सबध है, उनकी पूजी सहज ही उन्हे प्रथम श्रेणी के लेखको में ला बैठाती है।

उनकी आत्मकथा (अथवा सत्य के प्रयोग) एक अपूर्व ग्रथ है। वह सभी दृष्टियों से इस क्षेत्र में स्थापित सभी परपराओ को खड-खड करनेवाली क्रातिकारी पुस्तक है। उनके घोर-से-घोर विरोधी भी उसकी महानता को मुक्त कठ से स्वीकार करते है।

---

1. हिंदी नवजीवन, १०-२-२४

वस्तुत गाधीजी ने सच्चे अर्थों में 'आत्मकथा' लिखी है। जीवन में यदि कुछ गोपनीय रह जाता है तो आत्मकथा अधूरी है। सत्य और अहिसा का परीक्षण करनेवाला वैज्ञानिक अधूरी आत्मकथा नही लिख सकता। जिस प्रकार उन्होने अपना विश्लेषण करते समय सत्य को नही छोड़ा है, उसी तरह दूसरों के बारे मे लिखते समय उन्होने अहिसा को अपना आधार बनाया है। इसलिए उनके साहित्य में जहा उनकी पारदर्शिनी दृष्टि का चमत्कार है, वहा वह मानव के सहज सौंदर्य सहानुभूति से भी आप्लावित है। जब कभी उन्होने किसीके बारे मे लिखने के लिए कलम उठाई है, अपनी सरल, सुबोध और सुगठित भाषा में उस वर्ण्य व्यक्ति का बडा ही सहानुभूतिपूर्ण चित्र उतारकर रख दिया है।

वह कभी लिखने के लिए ही किसीका जीवन-वृत्त या संस्मरण लिखने बैठे हों, यह तो उनके लिए सभव नही था, परतु अपने बहुधधी सार्वजनिक जीवन मे उन्हें असख्य छोटे और बडे व्यक्तियो के सपर्क मे आना पड़ा था। केवल भारत ही नही, दक्षिण अफ्रीका मे भी अनेकानेक देशी और विदेशी व्यक्तियो से उनका सबध रहा था। बहुतो से वह सबध अति प्रगाढ़ और आत्मीयता से छलकता हुआ था। बहुतो के साथ उन्होने अपने सघर्षमय जीवन के अनेक वर्ष बिताये थे। कुछ के साथ वह कुछ ही दिन रहे थे। उनमे अनेक उनसे बड़े थे, जिनसे उन्होने बहुत-कुछ सीखा था। बहुत-से उनसे प्रेरणा लेते थे और उन्हे अपना आराध्यदेव मानते थे। बहुत-से उनके विरोधी भी थे, जिनसे उन्हे टक्कर लेनी पडती थी। ऐसे भी लोग थे, जिनसे उनका कोई विशेष सबध तो नही था, पर किन्ही विशेष कारणो से गाधीजी को उन व्यक्तियों में रुचि थी। इनसब व्यक्तियो में जाति, लिंग, वर्ण या वर्ग का कोई भेद नही था। उनमे राजनीति के धुरधर पडित और साधारण स्वयसेवक, धर्माचार्य और श्रद्धालु भक्त, सम्राट् और सेवक, पूजीपति और मजदूर, विद्रोही और प्रतिक्रियावादी सभी थे। सभीके बारे में उन्होने समान भाव और समान रूप से लिखा है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, लिखने के ये अवसर कभी पूर्व योजना के अनुसार नही आये। उस बहुधधी व्यस्त जीवन मे न जाने कब किसपर लिखना पड़ जाय, यह कोई नही जानता था। फिर भी ऐसे अवसर बहुत आते थे और

साधारणतया उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. गाधीजी अपने सहयोगियो, समाज के मूक सेवको या किसी रूप में प्रख्यात व्यक्तियो की मृत्यु पर समवेदना और श्रद्धाजलि के रूप में लिखा करते थे।

२ जव उनके सहकर्मियो और सहयोगियो पर आक्षेप होते थे, तब उनका निराकरण और समाधान करने के लिए उन्हे लिखना पड़ता था।

३ राष्ट्रीय महासभा के सभापति पद के लिए चुने जानेवाले व्यक्ति के वारे मे चुनाव के पूर्व या पश्चात् वह कभी-कभी लिखते थे।

४ अपने आदोलनो में भाग लेनेवालो और उनके विरोधियो के विषय मे उन आदोलनो के दौरान मे वह लिखते थे।

५ 'आत्मकथा' और 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' आदि पुस्तको मे तत्सवधी व्यक्तियो का वर्णन आया है।

६ अनेक व्यक्तियो के जन्म-दिन या जयती आदि के अवसर पर पत्रो को सदेश और शुभ कामना के रूप मे उन्होने लिखा है।

७ कभी-कभी विशुद्ध सपादकीय कर्तव्य को निवाहने के लिए लिखना पड़ता था।

८ निजी पत्रो में व्यक्तियो की चर्चा आ जाती थी।

यदि उनके साहित्य का काल-क्रम से अध्ययन किया जाय तो एक वात ज्ञात होगी कि शुरू में वह व्यक्तियो के वारे में अधिक लिखते थे, परतु जैसे-जैसे समय वीतता गया, यह लेखन कम होता गया। जव से उन्होने 'हरिजन' पत्रो का प्रकाशन किया, तव से तो हरिजन-सेवको को छोडकर और किसी के वारे में वह उन पत्रो में नही लिखते थे। इन पत्रो को छोडकर पुस्तक आदि लिखने का समय अव उनके पास नही रहा था। फिर भी इस सवध में गाधीजी के एक गुण की वात विशेप उल्लेखनीय है। वह सपर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह छोटा हो या वडा, विरोधी हो या सहयोगी, अधिक से-अधिक आत्मीयता स्थापित करने की चेप्टा करते थे। वह उसकी मानव-सुलभ भावनाओ को छूकर उससे वातें करते थे। सवसे पहले वह मानव थे और दूसरो को भी मानव समझते थे और यह सव था अहिंसा के कारण। इस दृष्टि से उनके सस्मरण अध्ययन की वस्तु है।

जैसे वह सरल और सशक्त भाषा लिखने में लासानी थे, वैसे ही वह शब्द चित्र खीचने मे भी बहुत कुशल थे। एक तो अपने जीवन के प्रति निर्दिष्ट वैज्ञानिक दृष्टिकोण (सत्य) के कारण, दूसरे विभिन्न विचार और व्यवहार के इतने अधिक व्यक्तियो के सपर्क मे आने के तथा मानवता (अहिसा) में अपनी आस्था के कारण उनकी परख सही और खरी हो गई थी, और जब दृष्टि पारदर्शी हो जाती है, तो वर्णन स्वत ही सजीव और मार्मिक हो जाता है। वस्तुत किसी भी व्यक्ति का ठीक-ठीक विश्लेषण करने मे उन्हे अद्भुत कुशलता प्राप्त थी। कम-से-कम और नपे-तुले सार्थक शब्दो मे वह वर्ण्य व्यक्ति के अंदर और बाहर का चित्र कागज पर उतारकर रख देते थे। कुछ चित्र देखिये—

"सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए, लोकमान्य समुद्र की तरह। गोखले गगा की तरह। उसमे मै नहा सकता था। हिमालय पर चढना मुश्किल है, समुद्र मे डूबने का भय रहता है, पर गगा की गोदी मे खेल सकते है, उसमे डोगी पर चढकर तैर सकते है।"

"शिष्य होना परम पवित्र, पर व्यक्तिगत भाव है। मैने १८८८ मे दादाभाई के चरणों मे अपनेको समर्पित किया, पर मेरे आदर्श से वह बहुत दूर थे। मै उनके पुत्र के स्थान पर हो सकता था, उनका शागिर्द नही हो सकता था। शिष्य का दर्जा पुत्र से ऊचा है। शिष्य पुत्र-रूप से दूसरा जन्म ग्रहण करता है। शिष्य होना अपनी स्वकीय प्रेरणा से समर्पित करना है .जस्टिस रानडे से मुझे भय लगता था। उनके सामने मुझे बयान करने का भी साहस नही होता था। बदरुद्दीन तैयबजी पिता की तरह प्रतीत हुए। उन्होने मुझे सलाह दी कि फिरोजशाह मेहता और रानडे के परामर्श से काम करो। सर फिरोजशाह तो हमारे सरक्षक बन गये। इसलिए उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य थी। जो कुछ वह कहते, मै चुपचाप स्वीकार करता। बबई के उस शेर ने मुझे आज्ञापालन का मर्म सिखाया। उन्होने मुझे अपना शागिर्द नहीं बनाया। उन्होने आजमाइश भी नही की।"

"जिस समय मै उनसे (लोकमान्य तिलक से) मिला, वह अपने साथियो से घिरे बैठे थे। उन्होने मेरी बाते सुनी और कहा—'आपका भाषण सार्वजनिक सभा मे होना जरूरी है, पर आप जानते है कि यहा दलबंदी है।

इससे ऐसा सभापति चाहिए जो किसी दल-विशेष का न हो। यदि इसके लिए आप डाक्टर भाडारकर से मिलें तो उत्तम हो।' मैंने उनकी सलाह स्वीकार की और लौट आया। सिवा इसके कि स्नेहमय मिलाप के भाव प्रदर्शित करके उन्होने मेरी घबराहट दूर की, नही तो लोकमान्य का उस समय मुझपर कोई अच्छा प्रभाव नही पड़ा।' डाक्टर भाडारकर ने मेरा उसी तरह स्वागत किया, जिस तरह गुरु शिष्य का करता है। उनके चेहरे से विद्वत्ता टपक रही थी। मेरे हृदय में श्रद्धा का ज्वार उमड आया, पर गुरु-भक्ति का भाव फिर भी न भरा। वह हृदय-सिहासन उस समय भी खाली रह गया। मुझे अनेक धीर-वीर मिले, पर राजा की पदवी तक कोई न पहुच सका।"

"पर जिस समय मै श्रीयुत गोखले से मिलने गया, बातें एकदम बदल गई।'' यह मिलन ठीक उसी प्रकार हुआ था, जैसे दो चिर-विछोही मित्रो या माता और पुत्र का होता है। उनकी नम्र आकृति देखकर मेरा हृदय शात हुआ। दक्षिण अफ्रीका तथा मेरे सबध में उन्होने जिस तरह पूछताछ की, उससे मेरा हृदय श्रद्धा से भर गया। उनसे विदा होते समय मैंने अपने दिल मे कहा, 'बस, मेरे मन का आदमी मिल गया।' १९०१ मे दूसरी बार दक्षिण अफ्रीका से लौटा। इस बार मेरी घनिष्ठता और भी प्रगाढ़ हो गई। उन्होने हाथ में मेरा हाथ लेकर पूछना शुरू किया—'किस तरह रहते हो? क्या कपडे पहनते हो? भोजन कैसा होता है?' मेरी माता भी इतनी तत्पर नही थी। मेरे और उनके बीच में कोई अतर नही था। यह चक्षुराग था, अर्थात् प्रथम दर्शन से ही हृदय में प्रगाढ़ प्रेम का अकुर जम गया था।"

इस उद्धरण में गांधीजी ने भारत के तत्कालीन नेताओ का जो तुलनात्मक चित्रण उपस्थित किया है, वह उनकी पारदर्शिनी दृष्टि, उनकी विश्लेषण-शक्ति, उनकी तीव्र और प्रखर अनुभूति को स्पष्ट करता है। गोखले के चित्र मे कितनी आत्मीयता है, वह उनके अपने मानवता से छलकते हुए हृदय की झाकी है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवन-चरित मे गाधीजी के विचारो की अच्छी-खासी आलोचना की है, पर सबकुछ कहकर उन्होंने लिखा है—"लेकिन वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं।"

अनुभूति की तीव्रता और वास्तविकता का और भी सुदर चित्रण उनके सस्मरणो मे हुआ है। घटनाओ और वार्तालाप के द्वारा उन्होने वर्ण्य

व्यक्ति की बाहरी और आतरिक सुदरता-कुरूपता की रेखाओं को इस प्रकार उभार दिया है कि इसके पूर्ण परिपाक के साथ-साथ व्यक्ति का सपूर्ण चित्र हृदय पर पत्थर की लीक बन जाता है। कस्तूरबा गाधी, देशबधुदास, घोषालबाबू तथा वासती देवी आदि के सस्मरण, इस दृष्टि से बहुत ही सुदर बने है। बासंती देवी का देशबधु की मृत्यु के बाद, जो चित्र गाधीजी ने खीचा है, वह बहुत ही मानवीय, बहुत ही करुण और बहुत ही यथार्थ है। भावना की अतिरजना ने उस करुण चित्र को बहुत ही सशक्त बना दिया है।

ये चित्र किसी उद्घोषित साहित्यिक के द्वारा नही लिखे गये, बल्कि एक ऐसे मानव द्वारा लिखे गये है, जिसका समस्त जीवन 'जीने की कला' के, सत्य के, प्रयोग करने मे बीता था, जिसने जीना सीखते-सीखते जिलाने (अहिसा) को सीख लिया था जो सबसे पहले और सबसे पीछे मात्र मनुष्य था और ऐसा मनुष्य ही मनुष्य को नही पहचानेगा तो कौन पहचानेगा।

इस पुस्तक के सकलन मे जिन मान्य व प्रिय बधुओ ने मुझे सहायता दी है, उनका मै हृदय से आभारी हूं।

—विष्णु प्रभाकर

विषय-सूची

देश-सेवकों के संस्मरण

: १ :

हकीम अजमल खां

एक जमाना था, शायद सन् '१५ की साल मे, जब मैं दिल्ली आया था, हकीम अजमल खा साहब से मिला और डाक्टर असारी से। मुझसे कहा गया कि हमारे दिल्ली के वादशाह अंग्रेज नही है, वल्कि ये हकीम साहव है। डाक्टर अंसारी तो बड़े बुजुर्ग थे, वहुत बड़े सर्जन थे, वैद्य थे। वह भी हकीमसाहब को जानते थे, उनके लिए उनके दिल मे बहुत कद्र थी। हकीमसाहब भी मुसलमान थे, लेकिन वह तो वहुत बडे विद्वान् थे, हकीम थे। यूनानी हकीम थे, लेकिन आयुर्वेद का उन्होने कुछ अभ्यास किया था। उनके वहा हजारो मुसलमान आते थे और हजारों गरीब हिंदू भी आते थे। साहूकार, धनिक मुसलमान और हिंदू भी आते थे। एक दिन का एक हजार रुपया उनको देते थे। जहांतक मैं हकीम साहब को पहचानता था, उन्हे रुपये की नही पडी थी, लेकिन सबकी खिदमत की खातिर उनका पेशा था। वह तो वादशाह-जैसे थे। आखिर मे उनके वाप-दादा तो चीन में रहते थे, चीन के मुसलमान थे, लेकिन वडे शरीफ थे। जितने हिंदू लोग मेरे पास आये, उनसे पूछा कि आपके सरदार यहां कौन है? श्रद्धानंदजी? श्रद्धानदजी यहा वड़ा काम करते थे। लेकिन नहीं, दिल्ली के सरदार तो हकीमसाहब थे। क्यों थे? क्योकि उन्होने हिंदू-मुसलमान सबकी सेवा ही की। यह सन् '१५ के साल की वात मैंने कही। लेकिन वाद मे मेरा ताल्लुक उनसे बहुत बढ़ गया और मैंने उनको और पहचाना।[1]

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन, १३-९-४७

" वह हिंदुस्तान के हिंदू, मुसलमान, सिख, क्रिस्टी, पारसी, यहूदी सबके प्रिय थे। वह पक्के मुसलमान थे, मगर वह इस खूबसूरत देश के रहनेवाले सब लोगों को समान सेवा करते थे।[1]

" हकीमसाहब के स्वर्गवास से देश का एक सबसे सच्चा सेवक उठ गया। हकीमसाहब की विभूतिया अनेक थी। वे महज कामिल हकीम ही नही थे, जो गरीबो और धनियो, सबके रोगो की दवा करता है। वह थे एक दरबारी देश-भक्त, यानी अगर्चे कि उनका वक्त राजो-महाराजो के साथ में बीतता था, मगर थे वह पक्के प्रजावादी। वह बहुत बडे मुसलमान थे और उतने ही बडे हिंदुस्तानी थे। हिंदू और मुसलमान दोनो से ही वह एक-सा प्रेम करते थे। बदले मे हिंदू और मुसलमान दोनो ही एक समान उनसे मुहब्बत रखते थे, उनकी इज्जत करते थे। हिंदू-मुसलमान एकता पर वह जान देते थे। हमारे झगडो के कारण उनके अतिम दिन कुछ दु खजनक हो गये थे, मगर अपने देश और देश-बधुओ मे उनका विश्वास कभी नष्ट नही हुआ। उनका विचार था कि आखिर दोनो सम्प्रदायो को मेल करना ही पडेगा। यह अटल विश्वास लेकर उन्होने एकता के लिए प्रयत्न करना कभी नही छोडा। हालाकि उन्हे सोचने मे कुछ समय लगा, लेकिन अत मे वह असहयोग-आदोलन में कूद ही पडे, अपनी प्रियतम और सबसे बड़ी कृति तिब्बी कालेज को खतरे मे डालते वह झिझके नही। इस कालेज से उनका इतना प्रबल अनुराग था, जिसका अदाजा सिर्फ वे ही लगा सकते है, जो हकीमजी को भलीभाति जानते थे। हकीमजी के स्वर्गवास से मैंने न सिर्फ एक बुद्धिमान और दृढ साथी ही खोया है, बल्कि एक ऐसा मित्र खोया है, जिसपर मैं आडे अवसरो पर भरोसा कर सकता था। हिंदू-मुसलिम एकता के बारे में वह हमेशा ही मेरे रहबर थे। उनकी निर्णय-शक्ति, गंभीरता और मनुष्य-प्रकृति का ज्ञान ऐसे थे कि वह बहुत करके

[1] प्रार्थना-प्रवचन, २९-१२-४७

सही फैसला ही किया करते थे। ऐसा आदमी कभी मरता नहीं है। यद्यपि उनका शरीर अब नहीं रहा, मगर उनकी भावना तो हमारे साथ बराबर रहेगी और वह अब भी हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करने को बुला रही है। जबतक हम सच्ची हिंदू-मुसलिम एकता पैदा नहीं कर लेते, उनकी याद बनाये रखने के लिए हमारा बनाया कोई स्मारक पूरा हुआ नहीं कहा जा सकता। परमात्मा ऐसा करे कि जो काम हम उनके जीते-जी नहीं कर सके, वह उनकी मौत से करना सीखे।

हकीमजी कोरे स्वप्नदृष्टा ही नहीं थे। उन्हें विश्वास था कि मेरा स्वप्न एक दिन पूरा होगा ही। जिस तरह तिब्बी कालेज के द्वारा उनका देशी चिकित्सा का स्वप्न फला, उसी तरह अपना राजनैतिक स्वप्न भी उन्होंने जामिया मिलिया के जरिए, पूरा करने की कोशिश की।[1]

: २ :

डा० मुख्तार अहमद अंसारी

डा० अंसारी जितने अच्छे मुसलमान हैं, उतने ही अच्छे भारतीय भी हैं। उनमें धर्मोन्माद की तो किसीने शंका ही नहीं की है। वर्षों तक वह एक साथ महासभा के सहमंत्री रहे हैं। एकता के लिए किये गये उनके प्रयत्नों को तो सब कोई जानते हैं और सच्ची बात तो यह है कि अगर बेलगाव में, कानपुर में श्रीमती सरोजिनी नायडू और गोहाटी में श्रीयुत श्रीनिवास आयंगार मार्ग में न आते तो इनमें से किसी भी अधिवेशन के अध्यक्ष डा० अंसारी ही चुने जाते, क्योंकि जब ये चुनाव हो रहे थे तब उनका नाम प्रत्येक आदमी की जबान पर था, परंतु कुछ खास कारणों से डा० अंसारी का हक आगे बढ़ा दिया गया और अब ज्ञात होता

---

[1] हिंदी नवजीवन, ५-१-२८

है कि विधि ने उनके चुनाव को इसीलिए आगे ढकेल दिया है कि वे ऐसे मौके पर आवे जब देश को उनकी सबसे अधिक जरूरत हो। अगर हिंदू-मुस्लिम एकता की कोई योजना दोनो पक्षो को ग्रहण करने योग्य मालूम हो तो नि सदेह डा० असारी ही उसे महासभा के द्वारा कर ले जा सकते है। . . . अकेली यही बात (सर्व-सम्मति से और हृदय से एक मुसलमान को अपना अध्यक्ष चुनना) हिंदुओ की ओर से इस बात का साफ प्रमाण होगा कि हिंदू एकता को दिल से चाहते है, और राष्ट्रीय विचारोवाले मुसलमानो मे डा० असारी की अपेक्षा साधारणतया मुसलमान जनता मे अधिक आदृत कोई नही है। इसलिए मेरे खयाल से तो यही अच्छा है कि अगले साल के लिए डा० असारी ही राष्ट्रीय महासभा के कर्णधार हो, क्योंकि केवल किसी योजना को मजूर कर लेना ही हमारे लिए काफी नही है। दोनो पक्षो द्वारा उसे मजूर कराने की बनिस्बत उसे कार्य मे परिणत करना शायद कही अधिक जरूरी है। और यदि हम मान ले कि दोनो पक्षो का समाधान करनेवाली एक योजना मजूर हो भी गई तो उसपर अमल करते समय बराबर सावधानी की आवश्यकता होगी। डा० असारी ही ऐसे काम के लिए सबसे अधिक योग्य पुरुष है। इसलिए मै आशा करता हू कि सभी प्रात एकमत से डा० असारी के नाम को ही उस सर्वोच्च सम्मान के लिए सूचित करेगे, जो कि राष्ट्रीय महासभा के आधीन है।[1]

... .

'हरिजन' मे उन सब महान् पुरुषो की मृत्यु पर, जो इस ससार से सिधार जाते है, साधारणतया मै लिखता नही हू। 'हरिजन' एक विशेष प्रवृत्ति से सबध रखनेवाला पत्र है। आम तौर पर उन्ही व्यक्तियो के स्वर्गवास के विषय मे इसमे लिखा जाता है जिनका कि हरिजन-कार्य के साथ विशेष-रूप से सबध होता है। श्री कमला नेहरू के स्वर्गवास पर मैने 'हरिजन' मे जो

[1] हिंदी नवजीवन, २१-७-२७

नहीं लिखा उसमे मुझे खास तौर पर अपने ऊपर पाबंदी लगानी पड़ी। ऐसा करके मैंने करीब-करीब अपने साथ जुल्म किया। मगर डा० अंसारी के स्वर्गवास पर मुझे कोई ऐसा आत्म-निग्रह करने की जरूरत नही। कारण यह है कि वे निस्सदेह हकीम अजमल खां की तरह ही हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के एक प्रतिरूप थे। कड़ी-से-कड़ी परीक्षा के समय भी वह अपने विश्वास से कभी डिगे नही। वह एक पक्के मुसलमान थे। हजरत मुहम्मदसाहब की जिन लोगों ने जरूरत के वक्त मदद की थी, वे उनके वशज थे और उन्हें इस बात का गर्व था। इस्लाम के प्रति उनमे जो दृढता थी और उसका उन्हे जो प्रगाढ ज्ञान था उस दृढता और उस ज्ञान ने ही उन्हे हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य मे विश्वास करनेवाला बना दिया था। अगर यह कहा जाय कि जितने उनके मुसलमान मित्र थे उतने ही हिंदू मित्र थे तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। सारे हिंदुस्तान के काबिल-से-काबिल डाक्टरों मे उनका नाम लिया जाता था। किसी भी कौम का गरीब आदमी उनसे सलाह लेने जाय, उसके लिए बेरोक-टोक उनका दरवाजा खुला रहता था। उन्होने राजा-महाराजाओ और अमीर घरानो से जो कमाया वह अपने जरूरतमद दोस्तों मे दोनों हाथों से खर्च किया। कोई उनसे कुछ मागने गया तो कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह उनकी जेब खाली किये बगैर लौटा हो, और उन्होने जो दिया उसका कभी हिसाब नही रखा। सैकड़ों पुरुषों और स्त्रियो के लिए वह एक भारी सहारा थे। मुझे इसमें तनिक भी सदेह नही कि सचमुच वह अनेक लोगों को रोते-बिलखते छोड़ गये है। उनकी पत्नी बेगमसाहिबा तो ज्ञानपरायणा है, यद्यपि वह हमेशा बीमार-सी रहती है। वह इतनी बहादुर है और इस्लाम पर उनकी इतनी ऊची श्रद्धा है कि उन्होने अपने प्रिय पति की मृत्यु पर एक आंसू भी नही गिराया। पर जिन अनेक व्यक्तियों को मै याद करता हू वे ज्ञानी या फिलासफर नही है। ईश्वर मे तो उनका विश्वास हवाई है, पर डा० अंसारी मे उनका विश्वास जीवित विश्वास था। इसमे उनका कोई कसूर नही। डाक्टर-

साहब की मित्रता के उनके पास ऐसे अनेक प्रमाण थे कि ईश्वर ने जब उन्हे छोड़ दिया तब डाक्टरसाहब भी उनकी मदद तभी तक कर सके, जबतक कि सिरजनहार ने उन्हें ऐसा करने दिया। जिस काम को वह जीवित अवस्था मे पूरा नही कर सके, ईश्वर करे, वह उनकी मृत्यु के बाद पूरा हो जाय।[१]

: ३ :

बी अम्मा

यह मानना मुश्किल है कि बी अम्मा का देहांत हो गया है। बी अम्मा की उस राजसी मूर्त्ति को या सार्वजनिक सभाओं में उनकी बुलद आवाज को कौन नही जानता। बुढापा होते हुए भी उनमें एक नवयुवक की शक्ति थी। खिलाफत और स्वराज्य के लिए उन्होंने अथक यात्राए की। इस्लाम की कट्टर अनुयायिनी होते हुए भी उन्होने देख लिया था कि इस्लाम का कार्य, जहातक मनुष्य के बस की बात है, भारत की आजादी पर आधारित है। इसी निश्चय के साथ उन्होने यह भी महसूस कर लिया था कि हिंदुस्तान की आजादी हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य और खादी के बिना असभव है। इसलिए वह अविराम एकता का प्रचार करती थीं। यह उनके लिए एक अटल सिद्धात हो गया था। उन्होंने अपने तमाम विदेशी और मिल के कपडो का परित्याग कर दिया था और खादी इस्तेमाल करती थी। मौलाना मुहम्मदअली मुझसे कहते हैं कि बी अम्मा ने उन्हें यह हुक्म दे रखा था कि मेरे जनाजे पर सिवा खादी के और कुछ न होना चाहिए जब-जब मुझे उनके बिछौने के नजदीक जाने का सौभाग्य प्राप्त होता तब-तब वह स्वराज्य और एकता की बातें पूछती। उनके बाद ही प्रायः वह खुदाताला से दुआ करती—"या खुदा, हिंदुओं और मुसलमानो

---

[१] हरिजन सेवक, १६-५-३६

को ऐसी अक्ल बख्शे कि जिससे ये एकता की जरूरत को समझे और रहम करके स्वराज्य देखने के लिए मुझे जिदा रहने दे ।"

इस बहादुर और भद्र आत्मा की यादगार को बनाये रखने की सबसे अच्छी रीति यही है कि हम सर्व-सामान्य कार्यो के प्रति उनके उत्साह और उमग का अनुकरण करे । हिंदूधर्म भी बिना स्वराज्य के उतना ही संकट मे है जितना कि इस्लाम । परमात्मा करे कि हिदुओ और मुसलमानो को इस प्रारभिक बात की कदर करने की बी अम्मा-जैसी बुद्धि दे। परमात्मा उनकी आत्मा को शाति और अली भाइयो को उनके सौपे कार्य को जारी रखने की शक्ति दे ।

बी अम्मा की मृत्यु की रात के उस गंभीर और प्रभावकारी दृश्य का वर्णन किये बिना मै नही रह सकता। उस समय मुझे उनके पास ही रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ था । यह सुनते ही कि अब वह अपने जीवन की अतिम सासे ले रही है मे और सरोजिनीदेवी वहा दौड़े गये । उनके कुटुब के कितने ही लोग आस-पास जमा थे। उनके डाक्टर और हितचितक डा० अंसारी भी मौजूद थे। वहां रोने की आवाज नही सुनाई देती थी, अलबत्ते मौ० मुहम्मदअली के गालो पर से आसू जरूर टपक रहे थे। बड़े भाई ने बडी कठिनाई से अपने शोकावेग को रोक रखा था । हां, उनके चेहरे पर एक असाधारण गभीरता अलबत्ते थी। सब लोग अल्ला का नामोच्चार कर रहे थे । एक सज्जन अंत समय की प्रार्थना गा रहे थे । 'कामरेड प्रेस' वी अम्मा के कमरे के इतना पास है कि आवाज सुनाई दे सकती है। परंतु एक मिनिट के लिए वहा के काम मे गड़बड नही हुई और न मौलाना ने ही अपने संपादकीय कर्तव्यो मे रुकावट आने दी। और सार्वजनिक काम तो कोई भी मुल्तवी नही किया गया । मौलाना शौकतअली ने तो सपने तक मे न सोचा था कि मै अपना रामजस कालेज जाना मुल्तवी करूगा। वह एक सच्चे सिपाही की तरह मुजफ्फरनगर के हिदुओ को दिये गये निश्चित समय पर उनसे मिले, हालाकि

वी अम्मा की मृत्यु के बाद उन्हे तुरत ही वहां से चला जाना पडा था। यह सब जैसाकि होना चाहिए था, वैसा ही हुआ। जन्म और मरण ये दो भिन्न-भिन्न दशाए नही है, बल्कि एक ही दशा के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप है। न मृत्यु से दुखी होने की जरूरत है, न जन्म से खुशी मनाने की।[1]

: ४ :

धर्मानंद कौसंबी

शायद आपने उनका नाम नही सुना होगा। इसलिए शायद आप दु ख मानना नही चाहेगे। वैसे किसी मृत्यु पर हमे दु ख मानना चाहिए भी नही, लेकिन इसान का स्वभाव है कि वह अपने स्नेही या पूज्य के मरने पर दु ख मानता ही है। हम लोग ऐसे बने है कि जो अपने काम की डुग्गी पिटवाता फिरता है और राज्य-कारण मे उछाले भरता है, उसको तो हम आसमान पर चढा देते है, लेकिन मूक काम करनेवालो को नही पूछते।

कौसवीजी ऐसे ही एक मूक कार्यकर्त्ता थे। उनका जन्म गोवा मे हुआ था। जन्म से वह हिंदू थे, पर उनको ऐसा विश्वास बैठ गया था कि बौद्ध धर्म मे अहिसा, शील आदि जितने बढे-चढे है, उतने दूसरे धर्म मे, वेद-धर्म मे भी, नही है। इसलिए उन्होने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और बौद्ध शास्त्रो के अध्ययन मे लग गये और उसमे इतने बड़े विद्वान हो गये कि शायद ही हिदुस्तान मे उनकी बराबरी का और कोई हो। उन्होन गुजरात विद्यापीठ व काशी विद्यापीठ मे पाली भाषा पढाई और अपनी अगाध विद्वत्ता का ज्ञान-दान किया था।

उन्होने मेरे पास १०००) भेज दिये, जो किसीने उनको दिये थे। उन्होने मुझको लिखा था कि किसी-

[1] हिंदी नवजीवन, २३-११-२४

को पाली पढने के लिए लंका भेज देना। लेकिन मैंने उनसे पूछा कि क्या लंका जाकर पढ़ने से किसीको बौद्ध धर्म प्राप्त हो जायगा ? मैंने तो दुनिया में बौद्धों से कहा है कि आपको अगर बौद्ध धर्म जानना है तो आप उसके जन्म-स्थान भारत में ही उसे पायेंगे। जहांपर वेद-धर्म से वह निकला है, वहीं आपको उसे खोजना है और शंकराचार्य-जैसे अद्वितीय विद्वान्, जो प्रच्छन्न बुद्ध कहलाये, उनके ग्रंथों को भी आप समझेंगे तब बौद्ध धर्म का गूढ रहस्य आप जान पायेंगे।

लेकिन कोसंबीजी की विद्वत्ता से मैं अपनी तुलना नहीं कर सकता। मैं तो इंग्लैंड में भोज खाकर बना हुआ बैरिस्टर हूं। मेरे पास संस्कृत का ज्ञान जरा-सा है। अगर आज मैं महात्मा बना हूं तो इसलिए नहीं कि अंग्रेजी का बैरिस्टर हूं, पर इसलिए कि मैंने सेवा की है और वह सेवा, सत्य और अहिंसा के द्वारा की है। इस सत्य और अहिंसा की पूजा में जो थोड़ी-सी सफलता मुझे मिलती चली गई उसीके कारण आज मेरी थोड़ी-बहुत पूछ है।

परम मित्र है, वह अपने कर्म के अनुसार आवेगा ही। भले ही कोई यह बता दे कि अमुक का जन्म अमुक समय होगा, पर मौत कब आवेगी, यह कोई भी आज तक नही बता पाया है।[1]

प्रोफेसर कौसबीजी जो बडे विद्वान थे और पाली भाषा मे अग्रगण्य माने जाते थे, वह सेवाग्राम-आश्रम मे चल बसे। उनके बारे मे वहा के सचालक बलवतसिह का पत्र है, जिसमे कहा गया है कि ऐसी मृत्यु आज तक मैने नही देखी। यह तो बिल्कुल ऐसी हुई जैसी कबीरजी ने बताई है —

दास कबीर जतन सो ओढी।
ज्यो-की-त्यों धर दीनी चदरिया॥

इस तरह हम सभी लोग मृत्यु की मैत्री साध ले तो हिन्दुस्तान का भला ही होने वाला है।[2]

: ५ :

कस्तूरबा गांधी

तेरह वर्ष की उम्र मे मेरा विवाह हो गया।....दो मासूम बच्चे अनजाने ससार-सागर मे कूद पडे। हम दोनो एक-दूसरे से डरते थे, ऐसा खयाल आता है। एक-दूसरे से शरमाते तो थे ही। धीरे-धीरे हम एक-दूसरे को पहचानने लगे। बोलने लगे। हम दोनो हम-उम्र थे, पर मैने पति का अधिकार जताना शुरू कर दिया। ..

कस्तूरबाई निरक्षर थी। स्वभाव उनका सरल और स्वतंत्र था। वह परिश्रमी भी थी, पर मेरे साथ कम बोला करती। अपने अज्ञान पर उन्हे असतोष न था। अपने बचपन मे मैने कभी उनकी ऐसी इच्छा नही देखी कि 'वह पढते है तो मै भी पढू।' उन्हे

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन, ५-६-४७

[2] प्रार्थना-प्रवचन, ८-६-४७

पढाने की मुझे बडी चाह थी। ... पढाने की जितनी कोशिशे की वे सब प्राय. बेकार गईं। शिक्षक रखकर पढाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप कस्तूरबाई मामूली चिट्ठी-पत्री व गुजराती लिखने-पढने से अधिक साक्षर न हो पाईं।

... ...

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की लडाई के काम से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीका मे नही, बल्कि देश मे है। दक्षिण अफ्रीका मे बैठे-बैठे मै कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था, परतु मैंने देखा कि यहा कही मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देश से मित्र लोग भी देश लौट आने को आकर्षित कर रहे थे। मुझे भी जचा कि देश जाने से मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा।

मैंने साथियो से छुट्टी देने का अनुरोध किया। बडी मुश्किल से उन्होने एक शर्त पर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक साल के अंदर लोगों को मेरी जरूरत मालूम हो तो मै फिर दक्षिण अफ्रीका आ जाऊंगा। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई, परतु मै तो प्रेम-पाश मे बधा हुआ था। मित्रो की बात को टाल नही सकता था। मैंने वचन दिया। इजाजत मिली।

इस समय मेरा निकट-सबध प्राय नेटाल के ही साथ था। नेटाल के हिंदुस्तानियो ने मुझे प्रेमामृत से नहला डाला। स्थान-स्थान पर अभिनदन-पत्र दिये गये और हरेक जगह से कीमती चीजे नजर की गई।

१८९६ मे जब मै देश आया था तब भी भेंटें मिली थी; पर इस बार की भेंटो और सभाओ के दृश्यो से मै घबराया। भेंट में सोने-चादी की चीजे तो थी ही, पर हीरे की चीजे भी थी।

इनसब चीजो को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मै इन्हे मंजूर कर लू तो फिर अपने मन को यह कहकर कैसे मना सकता हू कि मै पैसा लेकर लोगो की सेवा नही करता था? मेरे मवक्किलो की कुछ रकमो को छोडकर बाकी

सब चीजे मेरी लोक-सेवा के ही उपलक्ष मे दी गई थी। पर मेरे मन मे तो मवक्किल और दूसरे साथियो मे कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काम मे भी सहायता देते थे।

फिर उन भेटो मे एक पचास गिनी का हार कस्तूरबाई के लिए था। मगर उसे जो चीज मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवा के उपलक्ष मे। अतएव उसे पृथक नही मान सकते थे।

जिस शाम को इनमे से मुख्य-मुख्य भेटे मिली, वह रात मैंने एक पागल की तरह जागकर काटी। कमरे मे यहां-से-वहा टहलता रहा, परतु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सकडो रुपयो की भेटे न लेना भारी पड़ रहा था, पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मै चाहे इन भेटो को पचा भी सकता, पर मेरे बालक और पत्नी ? उन्हे तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नही लिया जा सकता था, यह हमेशा समझाया जाता था। घर मे कीमती जेवर आदि मै नही रखता था। सादगी बढती जाती थी। ऐसी अवस्था मे सोने की घडिया कौन रखेगा ? सोने की कठी और हीरे की अगूठिया कौन पहनेगा ? गहनो का मोह छोडने के लिए मै उस समय भी औरो से कहता रहता था। अब इन गहनो और जवाहरात को लेकर मै क्या करूगा ?

मै इस निर्णय पर पहुचा कि वे चीजे मै हरगिज नही रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादि को इन गहनो का ट्रस्टी बनाकर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मै जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल पडेगा। मुझे विश्वास था कि बालको को समझाने मे जरा भी दिक्कत पेश न आवेगी। अत उन्हे वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो तुरत समझ गये। वे बोले, "हमे इन गहनो से कुछ मतलब नही। ये सब चीजे हमे लौटा देनी चाहिए और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद नहीं बना सकेगे ?"

मै प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा को समझाओगे न ?" मैने पूछा।

"जरूर-जरूर। वह कहा इन गहनो को पहनने चली है! वह रखना चाहेगी भी तो हमारे ही लिए न ? पर जब हमे ही इनकी जरूरत नही है तब फिर वह क्यो जिद करने लगी ?"

परंतु काम अंदाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हे चाहे जरूरत न हो और लडको को भी न हो। बच्चों का क्या ? जैसा समझा दे, समझ जाते है। मुझे न पहनने दो; पर मेरी बहुओं को तो जरूरत होगी। और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ? जो चीजे लोगो ने इतने प्रेम से दी है उन्हे वापस लौटाना ठीक नही।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रु-धारा आ मिली। लड़के दृढ़ रहे और मै भला क्यो डिगने लगा ?

मैने धीरे से-कहा, "पहले लड़कों की शादी तो हो लेने दो। हम बचपन मे तो इनके विवाह करना चाहते ही नही है। बड़े होने पर जो इनका जी चाहे सो करे। फिर हमे क्या गहनो-कपडो की शौकीन बहुएं खोजनी है ? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मै कहा चला गया हूं ?"

"हा, जानती हू तुमको। वही न हो, जिन्होने मेरे भी गहने उतरवा लिये है! जब मुझे ही नही पहनने देते हो तो मेरी बहुओ को जरूर ला दोगे! लडको को तो अभी से वैरागी बना रहे हो! इन गहनों को मै वापस नही देने दूगी और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक है ?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवा की खातिर मिला है या मेरी ?" मैने पूछा।

"जैसा भी हो, तुम्हारी सेवा मे क्या मेरी सेवा नही है ? मुझ-से जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नही है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरों को घर मे रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नही ?"

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। पर गहने

वापस लौटाने का मैं निश्चय कर चुका था। अत मे बहुतेरी बातों मे मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका।

जिस समय डरबन मे मैं वकालत करता था, उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे हिंदू और ईसाई होते थे, अथवा प्रातो के हिसाब से कहे तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नही आता कि कभी उनके विषय मे मेरे मन मे भेद-भाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हे बिल्कुल घर के ही जैसा समझता और उसमे मेरी धर्मपत्नी की ओर से यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मैं उससे लडता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मा-बाप पचम जाति के थे। हमारे घर की बनावट पश्चिमी ढग की थी। इस कारण कमरे मे मोरी नही होती थी—और न होनी चाहिए थी, ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरो मे मोरियो की जगह पेशाब के लिए एक अलग वर्तन होता था। उसे उठाकर रखने का काम हम दोनो—दपती का था, नौकरो का नही। हा, जो कारकुन लोग अपने को हमारा कुटबी-सा मानने लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ कर डालते थे, लेकिन पचम जाति मे जन्मा यह कारकुन नया था। उसका वर्तन हमे ही उठाकर साफ करना चाहिए था। दूसरे बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देती, लेकिन इन भाई का बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनो मे झगडा मचा। यदि मैं उठाता हू तो उसे अच्छा नही मालूम होता था और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आखो से मोती की बूंदे टपक रही है, एक हाथ मे वर्तन लिये अपनी लाल-लाल आखो से उलहना देती हुई कस्तूरबाई सीढियो से उतर रही है, वह चित्र मैं आज भी ज्यो-का-त्यो खीच सकता हू।

परतु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निष्ठुर और कठोर भी था। मैं अपनेको उसका शिक्षक मानता था। इस-से अपने अधप्रेम के अधीन हो मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बर्तन उठा ले जाने-भर से मुझे सतोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा कि वह हँसते और हरखते हुए उसे ले जाय। इसलिए

मैने उसे डांटा-डपटा भी। मैने उत्तेजित होकर कहा—"देखो, यह बखेडा मेरे घर मे नही चल सकेगा।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। उसने धंधकते दिल से कहा, "तो लो, रखो यह अपना घर! मै चली!"

उस समय मै ईश्वर को भूल गया था। दया का लेशमात्र मेरे हृदय मे न रह गया था। मैने उसका हाथ पकडा। सीढी के सामने ही बाहर जाने का दरवाजा था। मे उस दीन अबला का हाथ पकड़ कर दरवाजे तक खीचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आखो मे गगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोली, "तुम्हे तो कुछ शरम है नही, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मै बाहर निकल-कर आखिर जाऊ कहा? मा-बाप भी यहा नही कि उनके पास चली जाऊ। मे ठहरी स्त्री-जाति! इसलिए मुझे तुम्हारी धौस सहनी ही पडेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बद कर लो। कोई देख लेगा तो दोनो की फजीहत होगी।"

मैने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा, पर मन मे शरमा जरूर गया। दरवाजा बद कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड नही सकती थी तब मे भी उसे छोडकर कहा जा सकता था? इस तरह हमारे आपस मे लड़ाई-झगड़े कई बार हुए है, परंतु उनका परि-णाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमे पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा मुझपर विजय प्राप्त की।

यह घटना १८९८ की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालन के विषय मे कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जबकि मुझे इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दु ख की साथिन है। मै यह समझकर बर्ताव करता था कि पत्नी विषय-भोग की भाजन है, उसका जन्म पति की हर तरह की आज्ञाओ का पालन करने के लिए हुआ है।

किंतु १९०० ई० मे मेरे इन विचारो मे गहरा परिवर्तन

हुआ। १९०६ मे उसका परिणाम प्रकट हुआ, परतु इसका वर्णन आगे प्रसग आने पर होगा। यहा तो सिर्फ इतना बताना काफी है कि ज्यो-ज्यो मै निर्विकार होता गया त्यो-त्यो मेरा घर-ससार शात, निर्मल और सुखी होता गया।[1]

•

बा का जबरदस्त गुण महज अपनी इच्छा से मुझमे समा जाने का था। यह कुछ मेरे आग्रह से नही हुआ था। लेकिन समय पाकर बा के अदर ही इस गुण का विकास हो गया था। मै नही जानता था कि बा मे यह गुण छिपा हुआ था। मेरे शुरू-शुरु के अनुभव के अनुसार बा बहुत हठीली थी। मेरे दबाव डालने पर भी वह अपना चाहा ही करती। इसके कारण हमारे बीच थोडे समय की या लबी कड्वाहट भी रहती, लेकिन जैसे-जैसे मेरा सार्वजनिक जीवन उज्ज्वल बनता गया, वैसे-वैसे बा खिलती गई और पुख्ता विचारो के साथ मुझमे यानी मेरे काम मे समाती गई। जैसे दिन बीतते गये, मुझमे और मेरे काम मे—सेवा मे—भेद न रह गया। बा धीमे-धीमे उसमे तदाकार होने लगी। शायद हिदुस्तान की भूमि को यह गुण अधिक-से-अधिक प्रिय है। कुछ भी हो, मुझे तो बा की उक्त भावना का यह मुख्य कारण मालूम होता है।

बा मे यह गुण पराकाष्ठा को पहुचा, इसका कारण हमारा ब्रह्मचर्य था। मेरी अपेक्षा बा के लिए वह बहुत ज्यादा स्वाभाविक सिद्ध हुआ। शुरू मे बा को इसका कोई ज्ञान भी न था। मैने विचार किया और बा ने उसको उठाकर अपना बना लिया। परिणामस्वरूप हमारा संबध सच्चे मित्र का बना। मेरे साथ रहने मे बा के लिए सन् १९०६ से, असल मे सन् १९०१ से, मेरे काम मे शरीक हो जाने के सिवा या उससे भिन्न और कुछ रह ही नही गया था। वह अलग रह नही सकती थी। अलग रहने मे उन्हे कोई दिक्कत न होती, लेकिन उन्होने मित्र बनने पर भी स्त्री के नाते और पत्नी के नाते मेरे काम मे समा जाने मे ही अपना धर्म माना। इसमे बा ने

[1] आत्मकथा, १९२७

मेरी निजी सेवा को अनिवार्य स्थान दिया। इसलिए मरते दम तक उन्होने मेरी सुविधा की देखरेख का काम छोड़ा ही नही।

अगर मै अपनी पत्नी के बारे मे अपने प्रेम और अपनी भावना का वर्णन कर सकू तो हिदूधर्म के बारे मे अपने प्रेम और अपनी भावनाओं को मै प्रकट कर सकता हू। दुनिया की दूसरी किसी भी स्त्री के मुकाबिले मे मेरी पत्नी मुझपर ज्यादा असर डालती है।...

यद्यपि अपनी मृत्यु के कारण वह सतत वेदना से छूट गई है, इसलिए उनकी दृष्टि से मैने उनकी मौत का स्वागत किया है, तो भी इस क्षति से मुझको जितना दुःख होने की कल्पना मैने की थी उससे अधिक दु ख हुआ है। हम असाधारण दपती थे। १९०६ मे एक दूसरे की स्वीकृति से और अनजानी आजमाइश के बाद हमने आत्म-सयम के नियम को निश्चित रूप से स्वीकार किया था। इसके परिणामस्वरूप हमारी गाठ पहले से कही ज्यादा मजबूत बनी और मुझे उससे बहुत आनंद हुआ। हम दो भिन्न व्यक्ति नही रह गये। मेरी वैसी कोई अच्छा नही थी, तो भी उन्होने मुझमे लीन होना पसद किया। फलत. वह सचमुच ही मेरी अर्धांगिनी बनी। वह हमेशा से बहुत दृढ इच्छा-शक्तिवाली स्त्री थी, जिनको अपनी नवविवाहित दशा मे मै भूल से हठीली माना करता था, लेकिन अपनी दृढ इच्छा-शक्ति के कारण वह अनजाने ही अहिसक असहयोग की कला के आचरण मे मेरी गुरु बन गई। आचरण का आरभ मेरे अपने परिवार से ही किया। १९०६ मे जब मैने उसे राजनीति के क्षेत्र मे दाखिल किया तब उसका अधिक विशाल और विशेष रूप से योजित 'सत्याग्रह' नाम पड़ा। दक्षिण अफ्रीका मे जब हिदुस्तानियो की जेल-यात्रा शुरु हुई तब बा भी सत्याग्रहियों मे एक थी। मेरे मुकाबिले शारीरिक पीड़ा उनको ज्यादा हुई। वह कई बार जेल जा चुकी थी, फिर भी इस बार के इस कैदखाने मे, जिसमे सभी तरह की सहूलियते मौजूद थी, उनको अच्छा नही लगा। दूसरे बहुतो के साथ मेरी और फिर तुरंत ही उनकी जो गिरफ्तारी हुई, उससे उन्हे जोर का आघात पहुंचा और उनका

मन खट्टा हो गया। वह मेरी गिरफ्तारी के लिए बिल्कुल तैयार नही थी। मैने उन्हे विश्वास दिलाया था कि सरकार को मेरी अहिसा पर भरोसा है और जबतक मै खुद गिरफ्तार होना न चाहू वह मुझे पकडेगी नही। सचमुच उनके ज्ञानततुओ को इतने जोर का धक्का वैठा कि उनकी गिरफ्तारी के बाद उन्हे दस्त की सख्त शिकायत हो गई। अगर उस समय डा० सुशीला नैयर ने, जो उनके साथ ही पकडी गई थी, उनका इलाज न किया होता तो मुझसे इस जेल मे आकर मिलने से पहले ही उनकी देह छूट चुकी होती। मेरी हाजिरी से उन्हे आश्वासन मिला और बिना किसी खास इलाज के दस्त की शिकायत दूर हो गई। लेकिन मन जो खट्टा हुआ था, सो खट्टा ही बना रहा। इसकी वजह से उनके स्वभाव मे चिडचिडापन आ गया और इसीका नतीजा था कि आखिर कष्ट सहते-सहत क्रम-क्रम से उनका देहपात हुआ।[1]

• • •

उनमे एक गुण बहुत बडा था। हर एक हिंदू-पत्नी मे वह कमोवेश होता ही है। इच्छा से या अनिच्छा से अथवा जाने-अनजाने भी वह मेरे पदचिह्नो पर चलने मे धन्यता अनुभव करती थी।

अगरचे मै चाहता था कि उस तीव्र वेदना से उन्हे छुटकारा मिले और जल्दी ही उनकी देह का अत हो जाय तो भी आज उनकी कमी को जितना मैने माना था, उससे कही अधिक मै महसूस कर रहा हू। हम असाधारण दपती थे—अनोखे। हमारा जीवन सतोषी, सुखी और सदा ऊर्ध्वगामी था।[2]

: ६ :

मगनलाल खुशालचंद गांधी

मेरे चाचा के पोते मगनलाल खुशालचद गाधी मेरे कामो

[1] 'हमारी बा', पृ० २२ [2] 'हमारी बा', १८-२-४५

मे मेरे साथ सन् १९०४ से ही थे। मगनलाल के पिता ने अपने सभी पुत्रो को देश के काम मे दे दिया है। वह इस महीने के शुरू मे सेठ जमनालालजी तथा दूसरे मित्रो के साथ बगाल गये थे, वहां से बिहार आये। वही पर अपने कर्त्तव्य के पालन मे ही उन्हे कठिन ज्वर हो आया। नौ दिन की बीमारी के बाद प्रेम और डाक्टरी ज्ञान से जितनी सेवा सभव है, सभी कुछ होने पर भी वह बृज-किशोर प्रसादजी की गोद मे से चले गये।

कुछ धन कमा सकने की आशा से मगनलाल गाधी मेरे साथ सन् १९०३ मे दक्षिण अफ्रीका गये थे। मगर उन्हे दूकान करते पूरा साल भर भी न हुआ होगा कि स्वेच्छापूर्वक गरीबी की मेरी अचानक पुकार को सुनकर वह फिनिक्स-आश्रम मे आ शामिल हुए और तब से एक बार भी वह डिगे नही, मेरी आशाए पूरी करने मे असमर्थ न हुए। यदि उन्होने स्वदेश-सेवा मे अपनेको होम दिया तो अपनी योग्यताओ और अपने अध्यवसाय के बल पर, जिनके बारे मे कोई सदेह हो ही नही सकता, वे आज व्यापारियों के सिरताज होते। छापाखाने मे डाल दिये जाने पर उन्होने तुरत ही मुद्रण-कला के सभी भेदो को जान लिया। यद्यपि पहले उन्होने कभी कोई यंत्र हाथ मे नही लिया था तो भी इजिन-घर मे, कलों के बीच तथा कपोजीटरो के टेबल पर सभी जगह अत्यंत कुशलता दिखाई। 'इडियन ओपीनियन' के गुजराती अश का सपादन करना भी उनके लिए वैसा ही सहज काम था। फिनिक्स-आश्रम मे खेती का काम भी शामिल था और इसलिए वह कुशल किसान भी बन गये। मेरा खयाल है कि आश्रम मे वे सर्वोत्तम बागबान थे। यह भी उल्लेखनीय है कि अहमदाबाद से 'यग इंडिया' का जो पहला अंक निकला उसमे भी उस सकट-काल मे उनके हाथ की कारीगरी थी।

पहले उनका शरीर भीम जैसा था, किंतु जिस काम मे उन्होने अपने को उत्सर्ग किया, उसकी उन्नति मे उस शरीर को गला दिया था। उन्होंने बड़ी सावधानी से मेरे आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन

किया था। जबकि मैने विवाहित स्त्री-पुरुषो के लिए भी 'ब्रह्मचर्य ही जीवन का नियम है' का सिद्धात अपने सहकारियो के सामने पेश किया था तब उन्होने पहले-पहल उसका सौदर्य तथा उसके पालन की आवश्यकता समझी और यद्यपि उसके लिए, जैसाकि मै जानता हू, उन्हे बड़ा कठोर प्रयत्न करना पडा था तो भी उन्होने इसे सफल कर दिखलाया। इसमे वह अपने साथ अपनी धर्मपत्नी को भी धीरतापूर्वक समझा-बुझाकर ले गये, उसपर अपने विचार जबरन डालकर नही।

जब सत्याग्रह का जन्म हुआ तब वह सबसे आगे थे। दक्षिण अफ्रीका के युद्ध का पूरा-पूरा मतलब समझानेवाला एक शब्द मै ढूढ रहा था। दूसरा कोई अच्छा शब्द न मिल सकने से मैने लाचार उसे निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया था, गोकि यह शब्द बहुत ही नाकाफी और भ्रमोत्पादक भी है। क्या ही अच्छा होता अगर आज मेरे पास उनका वह अत्यत सुदर पत्र होता जिसमे उन्होने बतलाया था कि इस युद्ध को 'सदाग्रह' क्यो कहना चाहिए। इसी सदाग्रह को बदलकर मैने 'सत्याग्रह' शब्द बनाया। उनका पत्र पढ़ने पर इस युद्ध के सभी सिद्धातो पर एक-एक करके विचार करते हुए अत मे पाठक को इसी नाम पर आना ही पड़ता था। मुझे याद है कि वह पत्र अत्यत ही छोटा और केवल आवश्यक विषय पर ही था, जैसे कि उनके सभी पत्र होते थे।

युद्ध के समय वह काम से कभी थके नही, किसी काम से देह नही चुराई और अपनी वीरता से वह अपने आसपास मे सभी किसीके दिल उत्साह और आशा से भर देते थे। जबकि सब कोई जेल गये, जब फिनिक्स मे जेल जाना ही मानो इनाम जीतना था तब भी, मेरी आज्ञा से, जेल से भारी काम उठाने के लिए वह पीछे ठहर गये। उन्होने स्त्रियो के दल मे अपनी पत्नी को भेजा।

हिंदुस्तान लौटने पर भी उन्हीकी बदौलत आश्रम, जिस सयम-नियम की बुनियाद पर बना है, खुल सका था। यहा उन्हे नया और अधिक मुश्किल काम करना पडा। मगर उन्होने अपने-

को उसके लायक साबित किया। उनके लिए अस्पृश्यता बहुत कठिन परीक्षा थी। सिर्फ एक क्षण के लिए ऐसा जान पडा, मानों उनका दिल डोल गया हो। मगर यह तो एक सैकंड की बात थी। उन्होने देख लिया कि प्रेम की सीमा नही बांधी जा सकती, और कुछ नही तो महज इसीलिए कि अछूतो के लिए ऊंची जातिवाले जिम्मेदार है, हमे उन्हीके जैसे रहना चाहिए।

आश्रम का औद्योगिक विभाग फिनिक्स के ही कारखाने के ढंग का नही था। यहा हमे बुनना, कातना, धुनना और ओटना सीखना था। फिर मगनलाल की ओर झुका। गोकि कल्पना मेरी थी, किन्तु उसे काम मे लानेवाले हाथ तो उनके थे। उन्होने बुनना और कपास के खादी बनने तक की और दूसरी सभी क्रियाए सीखी। वह तो जन्म से ही विश्वकर्मा, कुशल कारीगर थे।

जब आश्रम मे गोशाला का काम शुरू हुआ तब वह इस काम मे उत्साह से लग गये, गोशाला-संबधी साहित्य पढा और आश्रम की सभी गायो का नामकरण किया और सभी गोरुओ से मित्रता पैदा कर ली।

जब चर्मालय खुला तब भी वह वैसे ही दृढ थे। जरा दम लेने की फुर्सत मिलते ही वह चमड़े के सिद्धान्त भी सीखनेवाले थे। राजकोट के हाईस्कूल की शिक्षा के अलावा और जो कुछ वह इतनी अच्छी तरह जानते थे, उन्होने वह सब स्वानुभव की कठिन पाठशाला मे सीखा था। उन्होने देहाती बढ़ई, देहाती बुनकर, किसान, चरवाहों और ऐसे ही मामूली लोगो से सीखा था।

वह चर्खा-संघ के शिक्षण-विभाग के व्यवस्थापक थे। श्री वल्लभ भाई ने बाढ के जमाने मे उन्हे विट्ठलपुर का नया गाव बनाने का भार दिया था।

के ही समान यह सब मामूली लुहार-बढइयों को काम करते देखकर सीखा है। उनकी सबसे बडी लड़की राधा ने अपने मत्थे बिहार मे स्त्रियो की स्वाधीनता के सबंध मे एक मुश्किल और नाजुक काम उठाया था। सच ही तो, वह यह पूरा-पूरा जानते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा कैसी होनी चाहिए और वह शिक्षको को प्राय इस विषय पर गभीर और विचारपूर्वक चर्चा मे लगाया करते थे।

पाठक यह न समझे कि उन्हे राजनीति का कुछ ज्ञान ही नही था। उन्हे ज्ञान जरूर था; किंतु उन्होने आतमत्याग का रचनात्मक और शात पथ चुना था।

वह मेरे हाथ थे, मेरे पैर थे और थे मेरी आंखे। दुनिया को क्या पता कि मै जो इतना बड़ा आदमी कहा जाता हूं, वह बडप्पन मेरे शांत, श्रद्धालु, योग्य और पवित्र स्त्री तथा पुरुष कार्यकर्त्ताओ के अविरल परिश्रम और सेवा पर कितना निर्भर है, और उन सबमे मेरे लिए मगनलाल सबसे बड़े, सबसे अच्छे और सबसे अधिक पवित्र थे।

यह लेख लिखते हुए भी अपने प्यारे पति के लिए विलाप करती हुई उनकी विधवा की सिसक मैं सुन रहा हूं। मगर वह क्या समझेगी कि उससे अधिक विधवा, अनाथ मै ही हो गया हू। अगर ईश्वर मे मेरा जीवत विश्वास न होता तो उसकी मृत्यु पर, जोकि मुझे अपने सगे पुत्रों से भी अधिक प्रिय था, जिसने मुझे कभी धोखा न दिया, मेरी आशाए न तोडी, जो अध्यवसाय की मूर्त्ति था, जो आश्रम के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी अंगो का सच्चा चौकीदार था, मै विक्षिप्त हो जाता। उनका जीवन मेरे लिए उत्साहदायक है, नैतिक नियम की अमोघता और उच्चता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। उन्होने अपने ही जीवन मे मुझे एक-दो दिनो मे नही, कुछ महीनो मे नही, बल्कि पूरे चौबीस वर्षो तक की बडी अवधि मे—हाय, जोअब घडी भर का समय जान पडता है—यह साबित कर दिखलाया कि देश-सेवा और मनुष्य-सेवा, आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान आदि सभी शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है।

मगनलाल न रहे, मगर अपने सभी कामों मे वह जीवित हैं, जिनकी छाप, आश्रम की धूल मे से दौडकर निकल जानेवाले भी, देख सकते है ।[1]

... ...

उनके जैसा सरदार अगर मुझे मिला होता तो उन्होंने जितनी मेरी सेवा की थी, उतनी मै अपने सरदार की नही कर सकता। उनका जीवन संपूर्ण था। आश्रम के वह प्राण थे। मै तो केवल घूमता फिरा और आश्रम के प्रति बेवफा रहा। उन्होने आश्रम की सेवा में अपना शरीर गला दिया था। मै मीराबाई के समान जहर का प्याला पी सकता हूं, मेरे गले मे कोई सापो की माला डाल दे तो उसे सहन कर सकता हूं, किंतु यह वियोग उन दोनों से भी अधिक कठिन है। तो भी छाती कठिन करके, उनका गुण-कीर्तन करते हुए मैने अपने हृदय मे उनकी मूर्त्ति स्थापित की है।[2]

... ...

रूखी बहन[3] बिल्कुल बच्ची थी, तब से संतोक[4] के जीते-जी भी मगनलाल के हाथों पली थी। इसके जीने की शायद ही आशा थी। मुश्किल से सांस ले सकती थी। इस लडकी को मगन-लाल नहलाते, बाल संवारते और पास बैठाकर खिलाते थे और अपने दूसरे बच्चो की भी देखभाल करते थे। फिर भी नौकरी मे सबसे ज्यादा काम करते थे। सुदर-से-सुदर बाडी उन्होंने बनाई थी। फिनिक्स मे पहला गुलाब का फूल उन्हीने उगाया था। फिनिक्स की कितनी ही सख्त जमीन मे जब उनकी कुदाली की चोट पडती थी तब धरती कांपती मालूम होती थी।

मगनलाल मे आत्म-विश्वास था। अपने काम के बारे में श्रद्धा थी। और भगवान् ने उन्हे बलवान शरीर दिया था। यह

---

[1] हिंदी नव जीवन, २६-४-२८

[2] हिंदी नव जीवन ३-५-२८

[3] [4] मगनलाल गांधी की पुत्रियां

शरीर अत मे आश्रम के बोझ से और उनकी तपश्चर्या से कमजोर हो गया था ।[1]

. . ..

उन्होने आश्रम के लिए जन्म लिया था । सोना जैसे अग्नि मे तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि मे तपे और कसौटी पर सौ फी-सदी खरे उतरकर दुनिया से कूच कर गये । आश्रम मे जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है ।[2]

: ७ :

गोपालकृष्ण गोखले

गुरु के विषय मे शिष्य क्या लिखे । उसका लिखना एक प्रकार की धृष्टता मात्र है । सच्चा शिष्य वही है जो गुरु मे अपने-को लीन कर दे, अर्थात् वह टीकाकार हो ही नही सकता । जो भक्ति दोष देखती हो वह सच्ची भक्ति नही और दोष गुण के पृथक्करण मे असमर्थ लेखक द्वारा की गई गुरु-स्तुति को यदि सर्वसाधारण अगीकार न करे तो इसपर उसे नाराज होने का अधिकार नही हो सकता । शिष्य के आचरणो ही से गुरु की टीका होती है । गोखले राजनैतिक विपयो मे मेरे गुरु थे, इस बात को मै अनेक बार कह चुका हू । इस कारण उनके विषय मे कुछ लिखने मे मै अपनेको असमर्थ समझता हू । मै चाहे जितना लिख जाऊ, मुझे थोडा ही मालूम होगा । मेरे विचार से गुरु-शिष्य का संवध शुद्ध आध्यात्मिक सवध है । वह अकशास्त्र के नियमानुसार नही होता । कभी-कभी वह हमारे विना जाने भी हो जाता है । उसके होने मे एक क्षण से अधिक नही लगता, पर एक वार होकर वह फिर टूटना जानता ही नही ।

---

[1] महादेव भाई की डायरी, भाग १, ८-७-३२
[2] 'यरवडा-मदिर से' ३०-५-३२

१८९६ ई० मे पहले-पहल हम दोनों व्यक्तियो मे यह संबंध हुआ। उस समय न मुझे उनका खयाल था और न उन्हे मेरा। उसी समय मुझे गुरुजी के भी गुरु लोकमान्य तिलक, सर फिरोज-शाह मेहता, जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी, डा० भांडारकर तथा बगाल और मद्रास प्रांत के और भी अनेक नेताओ के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मै उस समय बिल्कुल नवयुवक था, मुझ-पर सबने प्रेम-वृष्टि की। सबके एकत्र दर्शन का वह प्रसग मुझे कभी न भूलेगा, परंतु गोखले से मिलकर मेरा हृदय जितना शीतल हुआ उतना औरो से मिलने से नही हुआ। मुझे याद नही आता कि गोखले ने मुझपर औरो की अपेक्षा अधिक प्रेम-वृष्टि की थी। तुलना करने से मै कह सकता हू कि डा० भाडारकर ने मुझपर जितना अनुराग प्रकट किया उतना और किसीने नही किया। उन्होने कहा—"यद्यपि मै आजकल सार्वजनिक कार्यों से अलग रहता हूं, फिर भी केवल तुम्हारी खातिर मै उस सभा का अध्यक्ष बनना स्वीकार करता हू, जो तुम्हारे प्रश्न पर विचार करने के लिए होनेवाली है।" यह सब होते हुए भी केवल गोखले ही ने मुझे अपने प्रेम-पाश मे आबद्ध किया। उस समय मुझे इस बात का बिल्कुल ज्ञान नही हुआ। पर सन् १९०२ वाली कलकत्ते की काग्रेस मे मुझे अपने शिष्य-भाव का पूरा-पूरा अनुभव हुआ। उपर्युक्त नेताओ मे से अनेक के दर्शनो का उस समय मुझे फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ। किंतु मैने देखा कि गोखले को मेरी याद बनी हुई थी। देखते ही उन्होने मेरा हाथ पकड़ लिया। वह मुझे अपने घर खीच ले गये। मुझे भय था कि विषय-निर्वाचिनी-समिति मे मेरी बात न सुनी जायगी। प्रस्तावो की चर्चा शुरू हुई और खतम भी हो गई, पर मुझे अत तक यह कहने का साहस न हुआ कि मेरे मन मे भी दक्षिण अफ्रीका-सबंधी एक प्रश्न है। मेरे लिए रात को कौन बैठा रहता! नेतागण काम को जल्दी निपटाने के लिए आतुर हो गये। उनके उठ जाने के डर से मै कापने लगा। मुझे गोखले को याद दिलाने का भी साहस न हुआ।

इतने मे वह स्वय ही बोले—मि० गाधी भी दक्षिण अफ्रीका के हिदुस्तानियो की दशा के सबध मे एक प्रस्ताव करना चाहते है। उसपर अवश्य विचार किया जाय। मेरे आनंद की सीमा न रही। राष्ट्रसभा के सबध मे मेरा यह पहला ही अनुभव था। इसलिए उससे स्वीकृत होनेवाले प्रस्तावो का मै बडा महत्त्व समझता था। इसके बाद भी उनके दर्शन के कितने ही अवसर उपस्थित हुए और वे सभी पवित्र है। पर इस समय जिस बात को मै उनका महामत्र मानता हू, उसका उल्लेख कर, इसे पूर्ण करना उत्तम होगा।

इस कठिन कलिकाल मे किसी विरले ही मनुष्य मे शुद्ध धर्मभाव देख पडता है। ऋषि, मुनि, साधु आदि नाम धारण कर भटकते फिरनेवालो को इस भाव की प्राप्ति शायद ही कभी होती है। आजकल उनका धर्म-रक्षक पद से च्युत हो जाना सभी लोग देख रहे है। यदि एक ही सुदर वाक्य मे धर्म की पूरी व्याख्या कही है तो वह भक्त-शिरोमणि गुजराती कवि नरसिह मेहता के इस वाक्य मे है

"ज्यां लगी आतमा तत्व चीन्यो नहीं,
त्यां लागी साधना सर्व जूठी।"

अर्थात्—"जबतक आत्मतत्व की पहचान न हो तबतक सभी साधनाए निरर्थक है।" यह वचन उसके अनुभव-सागर के मथन से निकला हुआ रत्न है। इससे ज्ञात होता है कि महा-तपस्वी तथा योगीजनो मे भी (सच्चा) धर्मभाव होना अनिवार्य नही है। गोखले को आत्मतत्व का उत्तम ज्ञान था, इसमे मुझे तनिक भी सदेह नही। यद्यपि वह सदा ही धार्मिक आडवरसे दूर रहे, फिर भी उनका सपूर्ण जीवन धर्ममय था। भिन्न-भिन्न युगो मे मोक्ष-मार्ग पर लगानेवाली प्रवृत्तिया देखी गई है। जब-जब धर्मबधन ढीला पडता है तब-तब कोई एक विशेष प्रवृत्ति धर्म-जागृति मे विशेप उपयोगी होती है। यह विशेष प्रवृत्ति उस समय की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती

है। आजकल हम अपनेको राजनैतिक विषयों में अवनत देखते हैं। एकांगी दृष्टि से विचार करने से जान पड़ेगा कि राजनैतिक सुधार से ही अन्य बातों मे हम उन्नति कर सकेंगे। यह बात एक प्रकार से सच भी है। राजनैतिक अवस्था के सुधार के बिना उन्नति होना संभव नहीं। पर राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन होने ही से उन्नति न होगी। परिवर्तन के साधन यदि दूषित तथा घृणित हुए तो उन्नति के बदले और अवनति ही होने की अधिकतर संभावना है। जो परिवर्तन शुद्ध और पवित्र साधनों से किया जाता है वही हमें उच्च मार्ग पर ले जा सकता है। सार्वजनिक कामों में पड़ते ही गोखले को इस तत्त्व का ज्ञान हो गया था और इसको उन्होंने कार्य में भी परिणत किया। यह बात सभी लोग जानते थे कि यह भव्य विचार उन्होंने अपनी भारत-सेवक-समिति तथा संपूर्ण जन-समुदाय के सम्मुख रखा कि यदि राजनीति को धार्मिक स्वरूप दिया जायगा तो यही मोक्ष-मार्ग पर ले जानेवाली हो जायगी। उन्होंने साफ कह दिया कि जबतक हमारे राजनैतिक कार्यों को धर्मभाव की सहायता न मिलेगी तबतक वे सूखे, रस-हीन, ही बने रहेंगे। उनकी मृत्यु पर 'टाइम्स ऑव इंडिया' में जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके लेखक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया था और राजनैतिक संन्यासी उत्पन्न करने के उनके प्रयत्न

भी कि जिस देश मे हम बसते है, उसका अधिकारी कौन है, अपनी जीवन-यात्रा भलीभाति निर्वाह कर लेता था, वह आज ऐसा नही कर सकता। ऐसी दशा मे उसका धर्माचरण राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार ही होना चाहिए । यदि हमारे साधु, ऋषि, मुनि, मौलवी और पादरी इस उच्च तत्व को स्वीकार कर ले तो जहा देखिये वही भारत-सेवक-समितिया ही दिखाई देने लगे और भारत मे धर्मभाव इतना व्यापक हो जाय कि जो राजनैतिक चर्चा आज लोगो को अरुचिकर होती है वही उन्हे पवित्र और प्रिय मालूम होने लगे, फिर पहले ही की तरह भारत-वासी धार्मिक साम्राज्य का उपभोग करने लगे। भारत का बधन एक क्षण मे दूर हो जाय और वह स्थिति प्रत्यक्ष आखो के सामने आ जाय, जिसका दर्शन एक प्राचीन कवि ने अपनी अमरवाणी मे इस प्रकार किया है—फौलाद से तलवार बनाने का नही, बल्कि (हल की) फाल बनाने का काम लिया जायगा और सिह और बकरे साथ-साथ विचरण करेगे। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति ही गुरुवर गोखले का जीवन-मत्र थी। यही उनका सदेश है और मुझे विश्वास है कि शुद्ध और सरल मन से विचार करने पर उनके भाषणो[1] के प्रत्येक शब्द मे यह मत्र लक्षित होगा।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

श्री कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, वही उपदेश भारत-माता ने महात्मा गोखले को दिया था और उनके आचरणो से सूचित होता है कि उन्होने उसका पालन भी किया है। यह सर्वमान्य बात है कि उन्होने जो-जो किया, जिस-जिस का उपभोग

---

[1] स्वर्गीय गोखले की पुण्य-तिथि के उपलक्ष में उनके भाषणो तथा लेखो के गुजराती संग्रह की भूमिका।

किया, जो स्वार्थ त्याग किया, जिस तप का आचरण किया, वह सभी कुछ उन्होने भारत-माता के चरणो मे अर्पण कर दिया।

केवल देश ही के लिए जन्म लेनेवाले इस महात्मा का अपने देश-बंधुओ के प्रति क्या सदेश है ? 'भारत-सेवक-समिति' के जो सेवक महात्मा गोखले के अतिम समय मे उनके पास उपस्थित थे, उन्हे उन्होने निम्नलिखित वाक्य कहे थे .

"(तुम लोग) मेरा जीवन-चरित लिखने न बैठना, मेरी मूर्ति बनवाने मे भी अपना समय मत लगाना। तुम लोग भारत के सच्चे सेवक होगे तो अपने सिद्धांत के अनुसार आचरण करने अर्थात् भारत की ही सेवा करने मे अपनी आयु व्यतीत करोगे।"

सेवा के संबध मे उनके आतरिक विचार हमे मालूम है। राष्ट्रीय सभा का कार्य-संचालन, भाषण तथा लेख द्वारा जनता को देश की सच्ची स्थिति का ज्ञान कराना, प्रत्येक भारतवासी को साक्षर बनाने का प्रयत्न कराना, ये सब काम सेवा ही है। पर किस उद्देश्य और किस प्रणाली से यह सेवा की जाय ? इस प्रश्न का वह जो उत्तर देते वह उनके इस वाक्य से प्रकट होता है। अपनी संस्था ('भारत-सेवक-समिति') की नियमावली बनाते हुए उन्होने लिखा है, "सेवको का कर्त्तव्य भारत के राजनैतिक जीवन को धार्मिक बनाना है।" इसी एक वाक्य मे सब-कुछ भरा हुआ है। उनका जीवन धार्मिक था। मेरा विवेक इस बात का साक्षी है कि उन्होने जो-जो काम किये, सब धर्मभाव ही की प्रेरणा से किये। बीस साल पहले उनका कोई-कोई उद्गार या कथन नास्तिकों का-सा होता था। एक बार उन्होने कहा था— "क्या ही अच्छा होता यदि मुझमे भी वही श्रद्धा होती, जो रानडे मे थी।" पर उस समय भी उनके कार्यो के मूल मे उनकी धर्म-बुद्धि अवश्य रहती थी। जिस पुरुष का आचरण साधुओ के सदृश्य है, जिसकी वृत्ति निर्मल है, जो सत्य की मूर्ति है, जो नम्र है जिसने सर्वथा अहंकार का परित्याग कर दिया है, वह निस्सदेह

धर्मात्मा है। गोखले इसी कोटि के महात्मा थे। यह बात मैं उनके लगभग २० वर्षों की सगति के अनुभव से कह सकता हू।

१८९६ मे मैंने नेटाल की शर्त्तबदी की मजदूरी पर भारत मे वाद-विवाद आरभ किया। उस समय कलकत्ता, बबई, पूना, मद्रास आदि स्थानो के नेताओ से मेरा पहले-पहल सबध हुआ। उस समय सब लोग जानते थे कि महात्मा गोखले रानडे के शिष्य है। फर्ग्यूसन कालेज को वह अपना जीवन भी अर्पण कर चुके थे, और मै उस समय एक निरा अनुभवहीन युवक था। मै पहले-पहल पूना मे उनसे मिला। इस पहली ही भेट मे हम लोगो मे जितना घनिष्ठ सबध हो गया उतना और किसी नेता से नही हुआ। महात्मा गोखले के विषय मे जो बाते मैंने सुनी थी वे सब प्रत्यक्ष देखने मे आईं। उनकी वह प्रेम-युक्त और हास्यमय मूर्त्ति मुझे कभी न भूलेगी। मुझे उस समय मालूम हुआ कि मानो वह साक्षात् धर्म की ही मूर्ति है। उस समय मुझे रानडे के भी दर्शन हुए थे। पर उनके हृदय मे मै स्थान न पा सका। मै उनके विषय मे केवल इतना ही जान सका कि वह गोखले के गुरु है। अवस्था और अनुभव मे वह मुझसे बहुत अधिक बडे थे, इस कारण अथवा और किसी कारण से मै रानडे को उतना न जान सका, जितना कि गोखले को मैंने जाना।

१८९६ ई० के अवसर से ही गोखले का राजनैतिक जीवन मेरे लिए आदर्श-स्वरूप हुआ। उसी समय से उन्होने राजनैतिक गुरु के नाते मेरे हृदय मे निवास किया। उन्होने सार्वजनिक सभा (पूना) की त्रैमासिक पुस्तक का सपादन किया। उन्होने फर्ग्यूसन-कालेज मे अध्यापन-कार्य करके उसे उन्नत दशा को पहुचाया। उन्होने वेल्बी-कमीशन के सामने गवाही देकर अपनी वास्तविक योग्यता का प्रमाण दिया, उनकी बुद्धिमत्ता की छाप लार्ड कर्जन पर—उन लार्ड कर्जन पर जो अपने सामने किसीको कुछ न गिनते थे—बैठी और वह उनसे शकित रहने लगे।

उन्होने बडे-बडे काम करके मातृभूमि की कीर्ति को उज्ज्वल

किया । पब्लिक-सर्विस-कमीशन का काम करते समय उन्होने अपने जीने-मरने तक की परवा न की । उनके इन तथा अन्य कार्यो का दूसरे व्यक्तियो ने उत्तम रीति से वर्णन किया है ।

... ...

जनरल बोथा तथा स्मट्स से जब उन्होने दक्षिण अफ्रीका की राजधानी प्रिटोरिया मे मुलाकात की थी उस समय इस मुलाकात के लिए तैयार होने मे उन्होने जितना परिश्रम किया था वह मुझे इस जन्म मे नही भूल सकता । मुलाकात के पहले दिन उन्होने मेरी और मि० कैलेनबेक की परीक्षा ली । वह स्वयं रात के तीन ही बजे जाग पडे और हम लोगों को भी उन्होने जगाया । उन्हे जो पुस्तके दी गई थी उनको उन्होने अच्छी तरह पढ लिया था । अब हम लोगों से जिरह करके वह इस बात का निश्चय करना चाहते थे कि उनकी तैयारी पूरी हुई या अभी उसमे कसर है । मैंने उनसे विनयपूर्वक कहा कि इतना परिश्रम अनावश्यक है । हम लोगो को तो कुछ मिले या न मिले, लडना ही होगा, पर अपने आराम के लिए मै आपका बलिदान नही करना चाहता । पर जिस पुरुष ने सर्वदा काम मे लगे रहने की आदत ही बना रखी थी, वह मेरी बातो पर कब ध्यान देता ! उनकी जिरहो का मै क्या वर्णन करू । उनकी चिताशीलता की कितनी प्रशसा करू । इतने परिश्रम का एक ही परिणाम होना चाहिए था । मन्त्रि-मडल ने वचन दिया कि आगामी बैठक मे सत्याग्रहियो की आकाक्षाओं को स्वीकार करने वाला कानून पास किया जायगा और मजदूरों को ४५ रुपयो का जो कर देना पडता है वह माफ कर दिया जायगा ।

पर इस वचन का पालन नही किया गया । तो क्या गोखले निश्चेष्ट हो बैठ रहे ? एक क्षण के लिए भी नही । मेरा विश्वास है कि १९१३ ई० मे उक्त वचन को पूरा कराने के लिए उन्होने जो अविराम श्रम किया, उससे उनके जीवन के दस वर्ष अवश्य छीजे होगे । उनके डाक्टर की भी यही राय है । उस वर्ष भारत मे जागृति उत्पन्न करने और द्रव्य एकत्र करने के लिए उन्होने जितने

कष्ट सहे, उनका अनुमान कठिन है। यह महात्मा गोखले का ही प्रताप था कि दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न पर भारतवर्ष हिल उठा। लार्ड हार्डिज ने मद्रास मे इतिहास मे यादगार होने योग्य जो भाषण दिया वह भी उन्हीका प्रताप था। उनसे घनिष्ठ परिचय रखनेवालो का कहना है कि दक्षिण अफ्रीका के मामले की चिता ने उन्हे चारपाई पर डाल दिया, फिर भी अत तक उन्होने विश्राम करना स्वीकार न किया। दक्षिण अफ्रीका से आधी रात को आने वाले पत्र-सरीखे लबे-चौडे तारो को उसी क्षण पढना, जवाब तैयार करना, लार्ड हार्डिज के नाम पर तार भेजना, समाचार-पत्रो मे प्रकाशित कराये जानेवाले लेख का मसविदा तैयार करना और इन कामो की भीड मे खाने और सोने तक की याद न रहना, रात-दिन एक कर डालना, ऐसी अनन्य निस्स्वार्थ भक्ति वही करेगा जो धर्मात्मा हो।

हिंदू और मुसलमान के प्रश्न को भी वह धार्मिक दृष्टि से ही देखते थे। एक बार अपनेको हिंदू कहनेवाला एक साधु उनके पास आया और कहने लगा कि मुसलमान नीच है और हिंदू उच्च। महात्मा गोखले को अपने जाल मे फसते न देख उसने उन्हे दोप देते हुए कहा कि तुम मे हिदुत्व का तनिक भी अभिमान नही। महात्मा गोखले ने भवे चढाकर हृदय-भेदी स्वर मे उत्तर दिया—"यदि तुम जैसा कहते हो वैसा करने ही मे हिंदुत्व है तो मै हिंदू नही। तुम अपना रास्ता पकडो।"

महात्मा गोखले मे निर्भयता का गुण बहुत अधिक था। धर्मनिष्ठा मे इस गुण का स्थान प्राय सर्वोच्च है। लेफ्टिनेट रैंड की हत्या के पश्चात् पूना मे हलचल मच गई थी। गोखले उस समय इग्लैंड मे थे। पूनावालो की तरफ से वहा उन्होने जो व्याख्यान दिये वे सारे जगत मे प्रसिद्ध है। उनमे वह कुछ ऐसी बाते कह गये थे, जिनका पीछे वह सबूत न दे सकते थे। थोडे ही दिनो बाद वह भारत लौटे। अपने भाषणो मे उन्होने अग्रेज सिपाहियो पर जो इलजाम लगाया था उसके लिए उन्होने माफी माग ली। इस

माफी मागने के कारण यहा के बहुत-से लोग उनसे नाराज भी हो गये। महात्मा को कितने ही लोगो ने सार्वजनिक कामो से अलग हो जाने की सलाह दी। कितने ही नासमझो ने उनपर भीरुता का आरोप करने मे भी आगापीछा न किया। इन सबका उन्होने अत्यंत गभीर और मधुर भाषा मे यही उत्तर दिया—"देश-सेवा का कार्य मैने किसीकी आज्ञा से अगीकार नही किया है और किसीकी आज्ञा से उसे मै छोड भी नही सकता। अपना कर्त्तव्य करते हुए यदि मै लोकपक्ष के साथ रहने के योग्य समझा जाऊं तो अच्छा ही है, पर यदि मेरे भाग्य वैसे न हो तो भी मैं उसे अच्छा ही समझूगा।" काम करना उन्होने अपना धर्म माना था। जहातक मेरा अनुभव है, उन्होने कभी स्वार्थ-दृष्टि से इस बात का विचार नही किया कि मेरे कार्यो का जनता पर क्या प्रभाव पडेगा। मेरा विश्वास है कि उनमे वह शक्ति थी जिससे यदि देश के लिए उन्हे फासी पर चढना होता तो भी वह अविचलित चित्त से हसते हुए फांसी पर चढ जाते। मै जानता हू कि अनेक बार उन्हे जिन अवस्थाओ मे रहना पड़ा है उनमे रहने की अपेक्षा फासी पर चढना कही सहज था। ऐसी विकट परिस्थितियो का उन्हे अनेक बार सामना करना पडा, पर उन्होने कभी पाव पीछे न हटाया।

इनसब बातो से तात्पर्य यह निकलता है कि यदि इस महान् देशभक्त के चरित्र का कोई अश हमारे ग्रहण करने योग्य है तो वह उनका धर्म-भाव ही है। उसीका अनुकरण करना हमे उचित है। हम सब लोग बडी व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नही हो सकते। हम यह भी नही देखते कि उसके सदस्य होने से देश-सेवा हो ही जाती है। हम सब लोग पब्लिक-सर्विस-कमीशन मे नही बैठ सकते। यह बात भी नही है कि उसमे के सब बैठनेवाले देशभक्त ही होते है। हम सब लोग उनकी बराबरी के विद्वान् नही हो सकते और विद्वानमात्र के देश-सेवक होने का भी हमे अनुभव नही है। परंतु निर्भयता, सत्य, धैर्य, नम्रता, न्यायशीलता, सरलता और

अध्यवसाय आदि गुणों का विकास कर उन्हें देश के लिए अर्पण करना सबके लिए साध्य है, यही धर्मभाव है। राजनैतिक जीवन को धर्ममय करने का यही अर्थ है। उक्त वचन के अनुसार आचरण करनेवाले को अपना पथ सदा ही सूझता रहेगा। महात्मा गोखले की संपत्ति का भी वही उत्तराधिकारी होगा। इस प्रकार की निष्ठा से काम करनेवाले को और भी जिन-जिन विभूतियों की आवश्यकता होगी वे सब प्राप्त होंगी। यह ईश्वर का वचन है और महात्मा गोखले इसका ज्वलंत प्रमाण है।[1]

विश्व-बंधुत्व की भावना उन्होंने स्वयं अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखा दी, इस बात को उनके साथी खूब अच्छी तरह से जानते हैं। पारिया (अंत्यज) कहे जानेवाले भाइयों से वह खूब दिल खोलकर मिलते थे। यह बात उनमें नहीं थी कि वह किसी पर कृपा या अहसान कर रहे हैं। उनके हृदय में तो केवल सेवा का ही आदर्श था। उनका विश्वास था कि सार्वजनिक आदमी जनता के नेता नहीं, बल्कि सेवक हैं। उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा सेवक ही सबसे बड़ा नेता था। वह हर तरह एक सच्चे जन्मना ब्राह्मण थे। वह जन्मजात अध्यापक भी थे। उनसे जब कोई 'प्रोफेसर' कहता तो बड़े प्रसन्न होते थे। विनम्रता की तो वह मूर्ति थे। राष्ट्र को उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया था। चाहते तो वह मालामाल हो जाते, लेकिन उन्होंने तो स्वेच्छा से गरीबी का ही बाना पसंद किया। गोखले ने एक महान अवसर पर लिखा था, "जो सेवा किसी व्यक्ति के कहने से हाथ में नहीं ली जाती, वह किसी दूसरे की आज्ञा से त्यागी भी नहीं जा सकती। इसलिए सबसे निरापद नियम तो यह है कि मनुष्य को हम उसके वर्तमान रूप में ही ग्रहण करें, फिर चाहे जिस कुल में वह पैदा हुआ हो और उसकी जाति या उसका रंग चाहे जो हो।"[2]

---

[1] 'महात्मा गांधी' रामचंद्र वर्मा लिखित

[2] हरिजन-सेवक ९-३-३४

: ८ :

घोषालबाबू

काग्रेस के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैने निश्चय किया था कि काग्रेस के दफ्तर मे यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करू।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धोकर मै काग्रेस के दफ्तर मे गया। श्री भूपेद्रनाथ बसु और श्रीघोषाल मत्री थे। भूपेनबाबू के पास पहुंचकर कोई काम मागा। उन्होने मेरी ओर देखकर कहा, "मेरे पास तो कोई काम नही है, पर शायद मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेगे। उनसे मिलो।"

मै घोषालबाबू के पास गया। उन्होने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले, "मेरे पास कारकुन का काम है। करोगे ?"

मैने उत्तर दिया, "जरूर करूगा। अपने बस भर सबकुछ करने के लिए मै आपके पास आया हू।"

"नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते है।"

कुछ स्वय-सेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा, "देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा ?"

फिर मेरी ओर देखकर कहा, "तो लो, यह चिट्ठियो का ढेर, और यह मेरे सामने पडी है कुरसी। उसे ले लो। देखते हो न, सैकडो आदमी मुझसे मिलने आया करते है। अब मै उनसे मिलू या जो लोग फालतू चिट्ठिया लिखा करते है उन्हे उत्तर दू ? मेरे पास ऐसे कारकुन नही कि जिनसे मै यह काम करा सकू। इन चिट्ठियो मे बहुतेरी तो फिजूल होगी, पर तुम सबको पढ जाना। जिनकी पहुंच लिखना जरूरी हो उनकी पहुच लिख देना और जिनके उत्तर के लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।"

उनके इस विश्वास से मुझे बडी खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने

बाद को जाना। चिट्ठियों के जवाब आदि का काम आसान था। सारे ढेर को मैंने तुरत निपटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। उन्हे बात करने की आदत बहुत थी। मै देखता था कि वह बातो मे बहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जानने के बाद तो कारकुन का काम देने मे उन्हे जरा शर्म मालूम हुई, पर मैंने उन्हें निश्चित कर दिया।

"कहा मै और कहा आप! आप काग्रेस के पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप मेरे बुजुर्ग है। मै ठहरा अनुभवहीन नवयुवक! यह काम सौपकर मुझपर तो आपने अहसान ही किया है, क्योकि मुझे आगे चलकर काग्रेस मे काम करना है। उसके काम-काज को समझने का अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।"

"सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परंतु आजकल के नवयुवक ऐसा नही मानते। पर मै तो काग्रेस को उसके जन्म से जानता हू। उसकी स्थापना करने मे मि० ह्यूम के साथ मेरा भी हाथ था।" घोषालबाबू बोले।

हम दोनो मे खासा सबध हो गया। दोपहर के खाने के समय वह मुझे साथ रखते। घोषालबाबू के बटन भी 'बेरा' लगाता। यह देखकर 'बेरा' का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बडे-बूढो की ओर मेरा बडा आदर रहता था। जब वह मेरे मनोभावो से परिचित हो गये तब अपना निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे। बटन लगवाते हुए मुह पिचकारकर मुझसे कहते, "देखो न, काग्रेस के सेवक को बटन लगाने तक की फुरसत नही मिलती, क्योकि उस समय भी वे काम मे लगे रहते है।" इस भोलेपन पर मुझे मन मे हँसी तो आई, परतु ऐसी सेवा के लिए मन मे अरुचि बिल्कुल न हुई। उससे जो लाभ हुआ उसकी कीमत नही आकी जा सकती।[1]

---

[1] आत्मकथा, १९२७

: ९ :

अमृतलाल वि० ठक्कर

ठक्करबापा आगामी २७ नवबर को ७० वर्ष के हो जायगे। बापा हरिजनो के पिता है और आदि-वासियो और उन सबके भी, जो लगभग हरिजनो की ही कोटि के है और जिनकी गणना अर्द्ध-सभ्य जातियो मे की जाती है। दिल्ली के हरिजन-निवास-वासियो की तजवीज इस प्रकार उनकी ७०वी जयती मनाने की है, जिस से ठक्करबापा के दिवस पर, हरिजन-कार्य के निमित्त, उन्हे ७०००) की एक विनम्र थैली भेट करना चाहते है। इसके लिए उन्होने मेरा आशीर्वाद मागा है। यह भी चाहते है कि उनके इस शुभ प्रयत्न को मै प्रकाश मे ला दू। पर मैने तो उन्हे झिडका है कि उनमे आत्म-श्रद्धा की कमी है। ठक्करबापा एक विरल लोकसेवक है। वह विनम्र स्वभाव के है। वह प्रशसा के भूखे नही। उनका जीवन कार्य ही उनका एकमात्र सतोष और विश्राम है। वृद्धावस्था उनके उत्साह को मंद नही कर सकी है। वह स्वयं एक संस्था है। एक बार जब मैने उनसे कहा कि वह थोडा आराम ले ले तो तुरत उनका जवाब आया, "जब इतना तमाम काम करने को पड़ा है, तब मैं आराम कैसे ले सकता हू ? मेरा काम ही मेरा आराम है।" अपने जीवन-कार्य मे वह जिस प्रकार अपनी शक्ति लगा रहे है, उसे देख कर तो उनके आस-पास रहनेवाले नवयुवक भी लज्जित हो जाते है। इतने महान् कार्य के लिए और उस जनसेवक के लिए, जो अपने विशाल वृद्ध कधो पर इतना भारी भार वहन कर रहा है, ७०००) की थैली एक प्रकार का अपमान है। कार्यकर्त्ताओ का तो यह लक्ष्य होना चाहिए कि सारे हिंदुस्तान से वे ७०,०००) से कम तो किसी हालत मे इकट्ठे नही करेगे। महान् सेवा-प्रवृत्ति और उसके सेवा-रत पिता को देखते हुए, यह ७०,०००) की रकम भी कोई चीज नही है। लेकिन एक महीने के अंदर यह

रकम इकट्ठी करनी है, इस दृष्टि से यह ठीक ही है।[1]

... .

भारत-सेवक-समिति को अपने प्राणो की तरह प्रिय समझने-वाले एक मित्र श्री ठक्करबापा-कोष के लिए दस रुपये का चदा भेजते हुए लिखते है—

"श्री ठक्करबापा की प्रशसा मे लिखे गये आपके एक-एक शब्द का मै समर्थन करता हू। इस सबंध मे मेरी एक ही सूचना है और वह यह कि बापा के पुण्य कार्यो का सारा श्रेय भारत-सेवक-समिति को महज इसलिए नही मिलना चाहिए कि बापा उसके एक सदस्य है। समिति ने बिना किसी हिचकिचाहट के उनको अपना सदस्य माना है और बापा के द्वारा मानव-जाति की जो महान सेवा हुई है, उसपर हमेशा ही गर्व किया है।"

यह शिकायत बिल्कुल ठीक है। दरअसल, बात तो यह है कि बापा की कई विशेषताओ का उल्लेख करते हुए मै उनकी एक खास विशेषता का उल्लेख करना भूल गया हू, इसका मुझे खयाल ही न रहा। बात यह कि भारत-सेवक-समिति की सदस्यता स्वीकार करने से पहले बापा म्युनिसिपल कारपोरेशन, बबई के रोड इजीनियर का काम करते थे। हरिजन-सेवक-सघ को उनकी सेवाए भारत-समिति की ओर से ही बतौर कर्ज के मिली है।[2]

बापा की इकहत्तरवी जयती मनाने मे मुझे हाजिर होना चाहिए। लेकिन मै इस लायक नही रहा हू। मेरी तो हार्दिक आशा है कि बापा सौ वर्ष पूरे करे। बापा का जन्म ही दलितो की सेवा के लिए है, वह भले ही अस्पृश्य हो या भिल्ल या सताल या खासी इत्यादि। उनकी कदर करने मे भी हम दलितो की कुछ-न-कुछ सेवा करते है। बापा की सेवा ने हिदुस्तान को बढाया है।[3]

---

[1] हरिजन सेवक, २१-१०-३९

[2] हरिजन सेवक, ४-११-३९

[3] हरिजन सेवक, ९-१२-३९

: १० :

रवींद्रनाथ ठाकुर

लार्ड हार्डिंज ने डाक्टर रवीद्रनाथ ठाकुर को एशिया के महा-कवि की पदवी दी थी, पर अब रवीद्रबाबू न सिर्फ एशिया के बल्कि संसार भर के महाकवि गिने जा रहे है। .... उनके हाथ से भारतवर्ष की सबसे बडी सेवा यह हुई है कि उन्होने अपनी कविता द्वारा भारतवर्ष का सदेश ससार को सुनाया है। इसीसे रवीद्रबाबू को सच्चे हृदय से इस बात की चिता है कि भारतवासी भारत-माता के नाम से कोई झूठा या सारहीन संदेशा ससार को न सुनावे। हमारे देश का नाम न डूबने पावे, इस बात की चिता करना रवीद्रबाबू के लिए स्वाभाविक ही है।[1]

... ...

शातिनिकेतन में आगमन मेरे लिए एक तीर्थ-यात्रा के समान था। बहुत दिनो से मेरी इच्छा वहा जाने की थी, लेकिन यह अवसर मलिकंदा जाते समय ही मुझे मिल सका। मेरे लिए शातिनिकेतन नया नही है। १९१५ मे जब इसकी रूपरेखा बन रही थी तब मै वही था। इसका मतलब यह नही कि अब इसका निर्माण-क्रम रुक गया है। गुरुदेव खुद विकसित हो रहे है। वृद्धा-वस्था के कारण उनके मन के लचीलेपन मे कोई अंतर नही पडा है। इसलिए जबतक गुरुदेव की भावना की छाया उसके ऊपर है तबतक शातिनिकेतन की वृद्धि रुक नही सकती। वहां प्रत्येक मनुष्य की उनके प्रति जो श्रद्धा है वह ऊपर उठानेवाली है, क्योकि वह सहज है। मुझे तो इसने अवश्य ही ऊचा उठाया। कृतज्ञ छात्रों और अध्यापकों ने उनको 'गुरुदेव' की जो उपाधि दे रखी है उससे शांतिनिकेतन मे उनकी स्थिति ठीक-ठीक व्यक्त होती है। यह स्थिति उनकी इसलिए है कि वह उस

[1] यंग इंडिया, १-६-२१

स्थान और वहा के समूह मे निमग्न हो गये है, अपनेको भूल गये है। मैने देखा कि वह अपनी प्रियतम कृति 'विश्व भारती' के लिए जी रहे है। वह चाहते है कि यह फूले-फले और अपने भविष्य के विपय मे निश्चित हो जाय। इसके बारे मे उन्होने मुझसे देर तक बातचीत की। लेकिन इतना भी उनके लिए काफी नही था, इसलिए जब हम विदा हो रहे थे तब उन्होने मुझे नीचे लिखा बहुमूल्य पत्र दिया

प्रिय महात्माजी,

आपने आज सुबह ही हमारे कार्य के 'विश्व-भारती'-केद्र का विहगावलोकन किया है। मै नही जानता कि आपने इसकी मर्यादा का क्या अदाज लगाया है। आप जानते है कि यद्यपि अपने वर्तमान रूप मे यह सस्था राष्ट्रीय है, तथापि अत भावना की दृष्टि से यह एक सार्वदेगिक—अतर्राष्ट्रीय—सस्था है और अपने साधनो के अनुसार भरसक शेष जगत को भारत की सस्कृति का आतिथ्य प्रदान करती है।

एक बडे गाढे अवसर पर आपने बिल्कुल टूटने से इसे बचाया और अपने पाव पर खडे होने मे इसकी सहायता की। आपके इस मित्रतापूर्ण कार्य के लिए हम आपके निकट सदा आभारी है।

और अब शातिनिकेतन से आपके विदा होने के पहले मै आपसे जोरदार अपील करता हू कि यदि आप इसे एक राष्ट्रीय सपत्ति समझते है तो इस सस्था को अपने सरक्षण मे लेकर इसे स्थायित्व प्रदान करे। 'विश्व-भारती' उस नौका के समान है, जो मेरे जीवन के सर्वोत्तम रत्नो से भरी हुई है और मुझे आशा है कि अपनी रक्षा के लिए अपने देशवासियो से यह विशेष देख-रेख पाने का दावा कर सकती है।

प्रेमपूर्वक—
रवीद्रनाथ ठाकुर

इस सस्था को अपने सरक्षण मे लेनेवाला मै कौन होता हू? चूकि यह एक ईमानदार आत्मा की कृति है, इसलिए ईश्वर का सरक्षण इसके साथ है। वह कोई दिखावे की चीज नही है। गुरुदेव

स्वय सार्वदेशिक—अतरर्राष्ट्रीय—है, क्योकि वह सच्चे रूप में राष्ट्रीय है। इसलिए उनकी संपूर्ण कृतिया सार्वदेशिक है और 'विश्व-भारती' उन सबमे श्रेष्ठ है। मुझे इसमे किसी तरह का संदेह नही कि जहांतक आर्थिक बोझ का सबंध है इसके भविष्य के बारे मे गुरुदेव को संपूर्ण चिता से मुक्त कर देना चाहिए। उनकी हृदयग्राही अपील के जवाब मे जो कुछ सहायता करने लायक मै हूं, करने का मैने उनको वचन दिया है।[1]

... ...

मै यहा आप लोगो के लिए कोई अतिथि या महमान बनकर नही आया हूं। शांतिनिकेतन तो मेरे लिए घर से भी अधिक है। जब १९१४ मे मै इंग्लैण्ड से लौटनेवाला था तब यही तो मेरे दक्षिण अफ्रीकावाले कुटुब का प्रेमपूर्वक आतिथ्य हुआ था और यहां मुझे भी करीब एक महीने तक आश्रय मिला था। जब मै आप सब लोगों को अपने सामने एकत्र देखता हू तो उन दिनों की याद मेरे हृदय पर छा जाती है। मै कितना चाहता हूं कि यहा ज्यादा दिन ठहरू, पर अफसोस कि यह सभव नही। यहां कर्तव्य का प्रश्न ह। उस दिन एक मित्र को एक पत्र मे मैने लिखा था कि शांतिनिकेतन और मलिकंदा की यह यात्रा मेरे लिए तीर्थ-यात्रा है। सचमुच इस बार शातिनिकेतन मेरे लिए 'शाति का निकेतन' सिद्ध हुआ। मै यहां राजनीति की सब चिता और झंझट छोड़कर मात्र गुरुदेव के दर्शन और आशीर्वाद लेने आया हूं। मैने अक्सर एक कुशल भिक्षुक होने का दावा किया है। लेकिन आज गुरुदेव का मुझे जो आशीर्वाद मिला है उससे बढकर दान मेरी झोली में कभी किसीने नही डाला है। मै जानता हू कि उनका आशीर्वाद तो मुझे हमेशा ही है। मगर आज मेरा खास सौभाग्य है कि उन्हीके हाथो रूबरू मुझे आशीर्वाद मिला और इस कारण मेरे हर्ष का पार नही।[2]

---

[1] हरिजन सेवक, २-३-४०

[2] हरिजन सेवक, ३०-३-४०

डा० रवींद्रनाथ टैगोर के निधन मे हमने न केवल अपने युग के सबसे बडे कवि को ही, बल्कि एक उत्कट राष्ट्रवादी को, जो कि मानवता का पुजारी भी था, खो दिया है। शायद ही कोई ऐसी सार्वजनिक प्रवृत्ति होगी, जिसपर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप न पडी हो। शातिनिकेतन और श्रीनिकेतन के रूप मे उन्होंने समस्त राष्ट्र के लिए ही नही, अपितु समस्त ससार के लिए विरासत छोडी है।[1]

... ...

टैगोर की क्या बात! उन्होने क्या नही साधा? साहित्य का एक भी क्षेत्र उन्होने छोडा है? और सबमे कमाल! ऐसी अलौकिक शक्तिवाला आदमी हमारे यहा तो है ही नही, लेकिन दुनिया मे भी होगा या नही, इसमे मुझे शक है।[2]

... .

गुरुदेव की देह खाक मे मिल चुकी है, लेकिन उनके अदर जो जोत थी, जो उजेला था, वह तो सूरज की तरह था, जो तबतक बना रहेगा जबतक धरती पर जानदार रहेगे। गुरुदेव ने जो रोशनी फैलाई वह आत्मा के लिए थी। सूरज की रोशनी जैसे हमारे शरीर को फायदा पहुचाती है, वैसे गुरुदेव की फैलाई रोशनी ने हमारी आत्मा को ऊपर उठाया है। वह एक कवि थे और प्रथम श्रेणी के साहित्यिक थे। उन्होने अपनी मातृभाषा मे लिखा और सारा बगाल उनकी कविता के झरने से काव्य-रस का गहरा पान कर सका। उनकी रचनाओ के अनुवाद बहुत-सी भाषाओं मे हो चुके है। वह अग्रेजी के भी वहुत बडे लेखक थे और शायद बिना अग्रेजी जाने ही वह उस जबान के इतने बडे लेखक बन गये थे। मदरसे की पढाई तो उन्होने की थी, लेकिन यूनिवर्सिटी की कोई

---

[1] हरिजन सेवक, ७-८-४१

[2] 'महादेवभाई की डायरी'

डिग्री उन्होने नही ली थी। वह तो बस गुरुदेव ही थे। हमारे एक वाइसराय ने उनको 'एशिया का कवि' कहा था। उससे पहले किसी को ऐसी पदवी नही मिली थी। वह समूची दुनिया के भी कवि थे। यही क्यो, वह तो ऋषि थे। हमारे लिए वह अपनी 'गीताजलि' छोड गये है, जिसने उनको सारी दुनिया मे मशहूर कर दिया। तुलसीदासजी हमारे लिए अपनी अमर रामायण छोड़ गये है। वेदव्यासजी ने महाभारत के रूप मे हमारे लिए मानव-जाति का इतिहास छोडा है। ये सब निरे कवि नही थे। ये तो गुरु थे। गुरुदेव ने भी सिर्फ कवि के नाते ही नही, ऋषि की हैसियत से भी लिखा है। लेकिन सिर्फ लिखना ही उनकी अकेली खासियत नही थी। वह एक कलाकार थे, नृत्यकार थे और गायक थे। बढिया-से-बढिया कला मे जो मिठास और पवित्रता होनी चाहिए, वह सब उनमे और उनकी चीजो मे थी। नई-नई चीजे पैदा करने की उनकी ताकत ने हमको शातिनिकेतन, श्रीनिकेतन और विश्व-भारती जैसी सस्थाए दी है। अपनी इन सस्थाओ मे वह भावरूप से विराजमान हैं, और ये अकेले बगाल को ही नही, बल्कि समूचे हिदुस्तान को उनकी विरासत के रूप मे मिली है। शातिनिकेतन तो हम सबके लिए असल मे यात्रा का एक धाम ही बन गया है। गुरुदेव अपने जीतेजी इन सस्थाओ को वह रूप नही दे पाये, जो वह देना चाहते थे, जिसका वह सपना देखते थे। कौन है, जो ऐसा कर पाया हो? आदमी के मनोरथ को पूरा करना तो भगवान के हाथ मे है। फिर भी ये सस्थाए हमे उनकी कोशिशो की याद दिलावेगी और हमेशा हमको यह बताती रहेगी कि गुरुदेव के मन मे अपने देश के लिए कितनी गहरी प्रीति थी और उन्होने उसकी कितनी-कितनी सेवाए की है।[१]

---

[१] हरिजन सेवक, १०-८-४६

: ११ :

लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बाल गगाधर तिलक अब ससार मे नही है। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वह ससार से उठ गये। हम लोगो के समय मे ऐसा दूसरा कोई नही, जिसका जनता पर लोकमान्य के जैसा प्रभाव हो। हजारो देशवासियो की उनपर जो भक्ति और श्रद्धा थी वह अपूर्व थी। यह अक्षरश सत्य है कि वह जनता के आराध्यदेव थे, प्रतिमा थे। उनके वचन हजारो आदमियो के लिए नियम और कानून-से थे। पुरुषो मे पुरुष-सिह ससार से उठ गया! केशरी की घोर गर्जना विलीन हो गई।

देशवासियो पर उनका इतना प्रभाव होने का क्या कारण था? मै समझता हू, इस प्रश्न का उत्तर बडा ही सहज है। उनकी स्वदेश-भक्ति ही उनकी इद्रियवृत्ति थी। वह स्वदेश-प्रेम के सिवा दूसरा धर्म नही जानते थे।

जन्म से ही वह प्रजासत्तावादी थे। बहुमत की आज्ञा पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि मुझे उससे भयभीत होना पडता था। पर यही वह वात है जिससे जनता पर उनका इतना अधिक प्रभाव था। स्वदेश के लिए वह जिस इच्छा-शक्ति से काम लेते थे वह वडी ही प्रवल थी। उनका जीवन वह ग्रथ है जिसे खोलने की भी जरूरत नही, वह खुला हुआ ग्रथ है। उनका खाना-पीना और पहनावा बिल्कुल साधारण था। उनका व्यक्तिगत जीवन वडा ही निर्मल और बेदाग था। उन्होने अपनी आश्चर्य-जनक बुद्धि-शक्ति को स्वदेश को अर्पण कर दिया था। जितनी स्थिरता और दृढता के साथ लोकमान्य ने स्वराज्य की शुभ वार्ता का उपदेश किया उतना और किसीने नही किया। इसी कारण स्वदेशवासी उनपर अटूट विश्वास रखते थे। साहस ने कभी उनका साथ नही छोड़ा। उनकी आशावादिता अदम्य थी। उनको आशा थी कि जीवनकाल मे ही मै सपूर्ण रूप से स्वराज्य स्थापित हुआ देख

सकूगा। यदि वह इसे नही देख सके तो उनका दोष नही है। उन्होंने निस्संदेह स्वराज्य-प्राप्ति की अवधि बहुत कम कर दी है।

मै अंग्रेजो को ऐसी धारणा बनाने से मना करता हूं कि लोकमान्य अंग्रेजों के शत्रु थे, या अधिकारी वर्ग या अंग्रेजी राज्य से घृणा करते थे ।

कलकत्ता-कांग्रेस के समय हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने के संबंध मे उन्होने जो कहा था, उसे सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था। वह काग्रेस-पडाल से तुरत ही लौटे थे। हिंदी के सबंध मे उन्होंने अपने शात भाषण मे जो कहा उससे वडी तृप्ति हुई। भाषण में उन्होने देशी भाषाओ पर खयाल रखने के कारण अग्रेजो की बड़ी प्रशसा की थी। विलायत जाने पर, यद्यपि उन्हे अग्रेज जूररो के विषय मे बुरा ही अनुभव हुआ तथापि उनका ब्रिटिश प्रजा-सत्ता मे बडा ही दृढ विश्वास हो गया। उन्होंने यहातक कहा था कि पंजाब के अत्याचारों का चित्र 'सिनेमेटोग्राफ' यत्र द्वारा ब्रिटिश प्रजासत्तावादियो को दिखाना चाहिए। मैंने यहा इस बात का उल्लेख इसलिए नही किया कि मै भी ब्रिटिश प्रजासत्ता पर विश्वास रखता हू (जो कि मै नही रखता), पर यह दिखाने के लिए कि वह अग्रेज-जाति के प्रति घृणा का भाव नही रखते थे। पर वह भारत और साम्राज्य की अवस्था को इस पिछडी अवस्था में न तो रखना ही चाहते थे और न रख सकते थे।

वह चाहते थे कि शीघ्र ही भारत से समानता का भाव रखा जाय और इसे वह देश का जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। भारत की स्वतंत्रता के लिए उन्होने जो लडाई की उसमे सरकार को छोड नही दिया। स्वतत्रता के इस युद्ध मे उन्होने न तो किसीकी मुरव्वत की और न किसीकी प्रतीक्षा ही की। मुझे आशा है, अग्रेज लोग उस महापुरुष को पहचानेगे, जिनकी भारत पूजा करता था।

भारत की भावी संतति के हृदय मे भी यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के बनानेवाले थे। वे तिलक महा-

राज का स्मरण यह कह कर करेगे कि एक पुरुष था, जो हमारे लिए ही जन्मा और हमारे लिए ही मरा। ऐसे महापुरुष को मरना कहना ईश्वर की निंदा करना है। उनका स्थायी तत्व सदा के लिए हम लोगो मे व्याप्त हो गया। आओ, हम भारत के एकमात्र लोकमान्य का अविनाशी स्मारक अपने जीवन मे उनके साहस, उनकी सरलता, उनके आश्चर्यजनक उद्योग और उनकी-स्वदेश-भक्ति को सीखकर बनावे। ईश्वर उनकी आत्मा को शाति प्रदान करे।[1]

... .

लोकमान्य तो एक ही थे। लोगो ने तिलक महाराज को जो पदवी, जो उच्चस्थान, दिया था वह राजाओ के दिये खिताबो से लाख-गुना कीमती था। देश ने आज यह बात सिद्ध कर दिखाई है। यह कहे तो अत्युक्ति नही होगी कि सारी बबई लोकमान्य को पहुचाने के लिए उलट पडी थी।[2]

उनके आखिरी दिनो मे जो दृश्य मैने अपनी आखो से देखा वह कभी भुलाया नही जा सकता। लोगो के उस अगाध प्रेम का वर्णन करना असभव है।

फ्रास मे कहावत है कि 'राजा मर गये, राजा चिरजीव रहे।' यह विचार इगलैड आदि सारे देशो मे प्रचलित है और जब राजा की मृत्यु होती है तब यह कहावत कही जाती है। उसका भावार्थ यह है कि राजा तो मरता ही नही। राजतत्र एक मिनिट भी बद नही रहता।

उसी प्रकार तिलक महाराज भी मर नही सकते, न मरे ही। बबई की जनता ने यह दिखला दिया कि वह जीते है और बहुत समय तक जीयेगे। उनके सगे-सबंधियो को भले ही दु ख हुआ हो, उन्होने भले ही आखो से मोती टपकाये हो, परतु दूसरे लोग तो उत्सव मनाने के लिए आये थे। बाजे और भजन लोगो को चेतावनी दे

[1] यग इडिया ४-८-२०

[2] यहां संकेत मृत्यु के समय से है।

रहे थे कि लोकमान्य मरे नही है। 'लोकमान्य तिलक महाराज की जय' ध्वनि से आकाश गूज उठता थी। उस समय लोग इस बात को भूल गये थे कि हम तो तिलक महाराज के देह के दाह-कर्म के लिए आये है।

शनिवार की रात को जब मैंने उनके स्वर्गवास की खबर सुनी तब मेरा चित्त व्याकुल हो रहा था, पर जयघोष सुनकर मेरी बेचैनी जाती रही। मेरी भी यही धारणा हुई कि तिलक महाराज जीवित है। उनका क्षण-भगुर देह छूट गया है, पर उनकी अमर आत्मा तो लाखो लोगो के हृदय मे विराजमान है।

इस जमाने मे किसी भी लोकनायक को ऐसी मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था। दादाभाई गये, फिरोजशाह गये, गोखले भी चले गये। सबके साथ हजारो लोग श्मशान तक गये थे; पर तिलक महाराज ने तो हद कर दी। उनके पीछे तो सारी दुनिया गई। रविवार को बबई बावली हो गई थी।

यह कैसा चमत्कार! ससार मे चमत्कार नाम की कोई वस्तु ही नही। अथवा यो कहे कि जगत स्वय ही एक चमत्कृति है। बिना कारण के कोई काम नही होता। इस सिद्धात मे कोई अपवाद नही हो सकता। लोकमान्य का हिंदुस्तान पर असीम प्रेम था। इसी कारण लोक-प्रेम की भी मर्यादा नही रह गई थी। स्वराज्य के मत्र का जितना जप उन्होने किया है उतना दूसरा किसीने नही किया। जिस समय दूसरे लोग यह मानते थे कि हा, अब भारत स्वराज्य के योग्य होगा, उस समय लोकमान्य सच्चे दिल से मानते थे कि भारत आज ही तैयार है। लोकमान्य की इस धारणा ने लोगो के मन को हर लिया था। ऐसा मानकर वह बैठे नहीं रहे, बल्कि जिदगी भर उसके अनुसार काम किया। उससे जनता मे नवीन चैतन्य, नया जोश पैदा हुआ। उन्होने स्वराज्य प्राप्त करने की अपनी अधीरता का स्वाद लोगो को चखाया और ज्यो-ज्यो जनता को उसका स्वाद मालूम होने लगा त्यों-त्यो वह उनकी तरफ खिचती गई।

उनपर अनेक तरह की आफतें आईं, तरह-तरह के कष्ट उन्हें सहने पड़े, तो भी उन्होंने उस मंत्र का अनुष्ठान नहीं छोड़ा। इस तरह वह कठिन परीक्षाओं में भी पास हुए। इससे जनता ने उन्हें अपने हृदय का सम्राट् बनाया और उनका वचन उसके लिए कानून की तरह मान्य हो गया।

देह के नष्ट हो जाने से ऐसा महान् जीवन नष्ट नहीं होता, बल्कि देह-पात के बाद से तो वह शुरू होता है।

जिसे हम पूजनीय मानते हैं उसकी सच्ची पूजा तो उसके सद्गुणों का अनुकरण करना ही है। लोकमान्य अत्यंत सादगी के साथ रहते थे। उनके स्मरण के लिए हमें भी अपना जीवन सादा बनाना चाहिए। हमें उस सीमा तक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए, जिस तक के लिए हमारा मन गवाही देता हो। अपने निश्चित कार्य को करने से कभी पीछे नहीं हटना चाहिए। वह विचारशील थे। हमें भी विचार करके ही बोलना और काम करना चाहिए। वह विद्वान् थे, अपनी मातृभाषा और संस्कृति पर उनका खूब प्रभुत्व था। हमें भी उनकी तरह विद्वान् होने का निश्चय करना चाहिए। व्यवहार में विदेशी भाषा का त्याग करके मातृ-भाषा का काफी ज्ञान प्राप्त करना और उसीके द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का अभ्यास करना चाहिए। हमें संस्कृत भाषा का अध्ययन करके अपने धर्म-शास्त्रों में छिपे धर्म-रहस्यों को प्रकट करना चाहिए। वह स्वदेशी के प्रेमी थे। हमें भी स्वदेशी का अर्थ समझकर उसका व्यवहार करना चाहिए। उनके हृदय में अपने देश के प्रति अथाह प्रेम था। हम भी अपने हृदय में ऐसा प्रेम उदय करें और दिन-प्रतिदिन देश-सेवा में अधिकाधिक तत्पर हों। इसी रीति से उनकी पूजा हो सकती है। जिनसे इतना न हो सके वे उनकी यादगार के लिए जितना हो सके धन दें और वह स्वराज्य के कार्य में खर्च किया जाय।

लोकमान्य वर्त्तमान राज्य-मंडल के कट्टर शत्रु थे। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह अंग्रेजों से द्वेष करते थे। जो

लोग ऐसा समझते है वे भूल करते है। उन्ही के श्रीमुख से मैने कई वार अग्रेजो की प्रशसा सुनी है। वह अग्रेजी राज्य के सवध को भी अनिष्ट नही मानते थे। वह तो सिर्फ अपनेको अग्रेजो के वरावर मनवाना चाहते थे। किसीका भी गुलाम वनकर रहना उन्हे पसद न था।

"शठ प्रति शाठ्यम्" तिलक महाराज का जीवन-मंत्र नही था। अगर ऐसा होता तो वह इतनी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकते। मेरी जान मे ससार-भर मे ऐसा भी एक उदाहरण नही है, जिससे किसी मनुष्य ने इस सिद्धात पर अपना जीवन-निर्माण किया हो और फिर भी वह लोकमान्य वन सका हो। यह सच है कि इस वारे मे जितना गहरा मै पैठता हूं, वह नही पैठते थे। हम शठ के प्रति शाठ्य का कदापि उपयोग कर ही नही सकते। 'गीता-रहस्य' मे एक-दो स्थानो मे, सिर्फ एक-ही दो स्थानो मे, इस वात का थोड़ा समर्थन जरूर मिलता है। लोकमान्य मानते थे कि राष्ट्र-हित के लिए अगर कभी शाठ्य से, दूसरे शब्दो मे 'जैसे को तैसा' सिद्धात से, काम लेना पडे तो ले सकते है। साथ ही वह यह भी मानते तो थे ही कि शठ के सामने भी सत्य का प्रयोग करना अच्छा है, यही सत्य सिद्धात है। मगर इस सवध मे वह कहा करते थे कि साधु लोग ही इस सिद्धात पर अमल कर सकते है। तिलक महा-राज की व्याख्या के मुताविक साधु लोगो से अर्थ वैरागियो का नही, वल्कि उन लोगो से होता है जो दुनिया से अलिप्त रहते है, दुनियादारी के कामो मे भाग नही लेते। इससे यह अर्थ नही निकलता कि अगर कोई दुनिया मे रहकर इस सिद्धात का पालन करे तो अनुचित होगा—हा, वह न कर सके यह दूसरी वात है। वह मानते थे कि शाठ्य का उपयोग करने का उसे अधिकार है।

लेकिन ऐसे महान् पुरुष के जीवन का मूल्य ठहराने का हमें कोई अधिकार हो तो हम विवादास्पद वातो मे उनका मूल्य न

---

[१] हिंदी नवजीवन, ६-८-२२

ठहरावे। लोकमान्य का जीवन भारत के लिए, समस्त विश्व के लिए, एक बहुमूल्य विरासत है। उसकी पूरी कीमत तो भविष्य मे निश्चित होगी। इतिहास ही उसकी कीमत का अनुमान लगावेगा, वही लगा सकता है। जीवित मनुष्य का ठीक-ठीक मूल्य, उसका सच्चा महत्व, उसके समकालीन कभी ठहरा ही नही सकते। उनसे कुछ-न-कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है, क्योकि रागद्वेष-पूर्ण लोग ही इस काम के कर्ता भी होते है। सच पूछा जाय तो इतिहासकार भी राग-द्वेप-रहित नही पाये जाते। समकालीन व्यक्ति मे विशेष पक्षपात होने की सभावना रहती है। लोकमान्य के महान् जीवन का उपयोग तो यह है कि हम उनके जीवन के शाश्वत सिद्धातो का सदा स्मरण और अनुकरण करे।

तिलक महाराज का देश-प्रेम अटल था। साथ ही उनमे तीक्ष्ण न्याय-वृत्ति भी थी। इस गुण का परिचय मुझे अनायास मिला था। १९१७ की कलकत्ता-महासभा के दिनो मे, हिदी साहित्य सम्मेलन की सभा मे भी वह आये थे। महासभा के काम से उन्हे फुर्सत तो कैसे हो सकती थी? फिर भी वह आये और भापण करके चले गये। मैने वही देखा कि राप्ट्र-भाषा हिदी के प्रति उनमे कितना प्रेम था। मगर इससे भी वढकर जो बात मैने उनमे देखी, वह थी अग्रेजो के प्रति की उनकी न्याय-वृत्ति। उन्होन अपना भापण ही यो शुरू किया था—"मै अग्रेजी शासन की खूव निदा करता हू, फिर भी अग्रेज विद्वानो ने हमारी भापा की जो सेवा की है, उसे हम भुला नही सकते।" उनका आधा भाषण इन्ही वातो से भरा था। आखिर उन्होने कहा था कि अगर हमे राष्ट्र-भाषा के क्षेत्र को जीतना और उसकी वृद्धि करना हो तो हमे भी अग्रेज विद्वानो की भाति ही परिश्रम और अभ्यास करना चाहिए। अपनी लिपि की रक्षा और व्याकरण की व्यवस्था के लिए हम एक वडी हद तक अग्रेज विद्वानो के आभारी है। जो पादरी आरभ मे आये थे, उनमे पर-भापा के लिए प्रेम था। गुजराती मे टेलर-कृत व्याकरण कोई साधारण वस्तु नही है। लोकमान्य ने इस वात

का विचार भी नही किया कि अग्रेजो की स्तुति करने से मेरी लोकप्रियता घटेगी। लोगों का तो यही विश्वास था कि वह अग्रेजो की निदा ही कर सकते है।

तिलक महाराज मे जो त्याग-वृत्ति थी, उसका सौवां या हजारवा भाग की हम अपने मे नही बता सकते। और उनकी सादगी? उनके कमरे मे न तो किसी तरह का फर्नीचर होता था, न कोई खास सजावट। अपरिचित आदमी तो खयाल भी नही कर सकता था कि वह किसी महान् पुरुष का निवास-स्थान है। रग-रग मे भिदी हुई उनकी इस सादगी का हम अनुकरण करे तो कैसा हो? उनका धैर्य तो अद्‌भुत था ही। अपने कर्तव्य मे वह सदा अटल रहते और उसे कभी भूलते ही न थे। धर्मपत्नी की मृत्यु का सवाद पाने पर भी उनकी कलम चलती ही रही।. क्या हम तिलक महाराज के जीवन का एक भी ऐसा क्षण बतला सकते है, जो भोग-विलास मे बीता हो? उनमे जबर्दस्त सहिष्णुता थी। यानी वह चाहे जैसे उद्दड-से-उद्दड आदमी से भी काम करवा लेते थे। लोकनायक मे यह शक्ति होनी चाहिए। इससे कोई हानि नही होती। अगर हम सकुचित हृदय बन जायं और सोच ले कि फला आदमी से काम लेगे ही नही, तो या तो हमे जगल मे जाकर बस जाना चाहिए, या घर बैठे-बैठे गृहस्थ का जीवन बिताना चाहिए। इसमे शर्त यही है कि स्वय अलिप्त रह सके।

मुह से तिलक महाराज का बखान करके ही हम चुप न हो बठे। काम, काम और काम ही हमारा जीवन-सूत्र होना चाहिए। जब कि हम स्वराज्य-यज्ञ को चालू रखना चाहते है, हमे चाहिए कि हम निकम्मे साहित्य का पढना बद कर दे, निरर्थक बाते करना छोड़ दे और अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वराज्य के काम मे बिताने लगे। आप पूछेगे कि क्या पढाई छोड़कर यह काम करे? १९२१ मे भी विद्यार्थियो के साथ मेरा यही झगडा था कि तिलक महाराज ने क्या किया था? उन्होने जो बड़े-बडे ग्रथ लिखे, वे बाहर रहकर नही. जेल मे रहकर लिखे थे। 'गीता-रहस्य' और

'आर्क्टिक होम' वह जेल मे ही लिख सके थे। बडे-बडे मौलिक ग्रथ लिखने की शक्ति होते हुए भी उन्होने देश के लिए उसका बलिदान किया था। उन्होने सोचा, "घर के चारो ओर आग भभक उठी है। इसे जितनी बुझा सकू, उतनी तो बुझाऊ।" उन्होने अगर हजार घड़े पानी से वह बुझाई हो तो हम एक ही घड़ा डाले, मगर डाले तो सही। पढाई आदि आवश्यक होते हुए भी गौण बाते है। अगर स्वराज्य के लिए इनका उपयोग होता हो तो करना चाहिए, अन्यथा इन्हे तिलाजलि देनी चाहिए। इससे न हमारा नुकसान है और न ससार का।

तिलक महाराज अपने जीवन द्वारा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण छोड गये है। जिनके जीवन मे से इतनी सारी बाते ग्रहण करने योग्य हो, जिनकी विरासत इतनी जबर्दस्त हो, उनके सबध मे उक्त प्रश्न के लिए गुजाइश ही नही रहती है। हमारा धर्म तो गुणग्राही बनने का है।

आज हमे जो काम करना है, वह मुर्दार आदमियो के करने से तो हो नही सकता। स्वराज्य का काम कठिन है। भारत में आज एक लहर बह रही है। उसमे खिचकर हम भाषण करते है, धीगाधीगी मचाते है, तूफान खडे करते है, मनमाने तौर पर सस्थाओ मे घुस जाते है और फिर उन्हे नष्ट करते एव धारासभाओ मे जाकर भाषण करते है। तिलक महाराज के जीवन में ये बाते हमारे देखने मे भी नही आती। उनके जीवन के जो गुण अनुकरणीय है, सो तो मै ऊपर कह ही चुका हू।[1]

---

[1] लोकमान्य की पुण्यतिथि पर गुजरात विद्यापीठ में दिया गया भाषण।

: १२ :

अब्बास तैयबजी

सबसे पहले सन् १९१५ मे मै अब्बास तैयबजी से मिला था। जहा कही मै गया, तैयबजी-परिवार का कोई-न-कोई स्त्री-पुरुष मुझसे आकर जरूर मिला। ऐसा मालूम पड़ता है, मानो इस महान् और चारो तरफ फैले हुए परिवार ने यह नियम ही बना लिया था। हमारे बीच इस अटूट सबध का खास कारण क्या था? सिवा इसके मुझे और कुछ मालूम नही कि जिस सुप्रतिष्ठित न्यायाधीश के कारण यह वश प्रसिद्ध है उससे सन् १८९० मे मेरी मित्रता हो गई थी, जबकि मै दक्षिण अफ्रीका से हिदुस्तान वापस आया था और बिल्कुल अनजान व्यक्ति था। कुछ लोगो के विचार मे तो मै सभवत. एक दुःसाहसी आदमी था, लेकिन बदरुद्दीन तैयबजी और कुछ अन्य व्यक्ति ऐसे भी थे, जिनका यह खयाल नही था।

मगर मुझे तो बड़ौदा के अब्बास मिया के विषय पर ही आना चाहिए। जब हम एक-दूसरे से मिलते और मै उनके मुह की ओर देखता तो मुझे स्व० जस्टिस बद्रुद्दीन तैयबजी का स्मरण हो आता था। हमारी उस मुलाकात से हमारे बीच जन्म-भर के लिए मित्रता की गांठ बध गई। मैने उन्हे हरिजनो का मित्र ही नही; बल्कि उन्हीमे का एक पाया। बहुत दिन पहले गोधरा मे, शाम को हरिजनो की बस्ती में होनेवाले एक अस्पृश्यता-विरोधी-सम्मेलन मे जब मैने उन्हे बुलाया तो दर्शकों को बडा आश्चर्य हुआ, लेकिन अब्बास मियां ने हरिजनो के काम मे उसी उत्साह से भाग लिया, जैसे कोई कट्टर हिदू ले सकता है। इतने पर भी वह कोई साधारण मुसलमान नही थे। इस्लाम के लिए उन्होने मुक्तहस्त से दान दिया और कई मुस्लिम सस्थाओं को वह सहायता देते रहते थे। मगर हरिजनो को मुसलमान बनाने जैसा कोई विचार उनके मन मे नही था। उनके इस्लाम मे भूमंडल के तमाम महान् धर्मो के

लिए गुंजाइश थी। इसीलिए अस्पृश्यता-विरोधी-आंदोलन में वह हिंदुओं की ही तरह उत्साहपूर्वक भाग लेते थे, और मैं जानता हूं कि जबतक वह जिंदा रहे तबतक उनका यह उत्साह बराबर वैसा ही बना रहा।

असल बात यह है कि उन्होंने आधे मन से कभी कोई काम नहीं किया। अब्बास तैयबजी अपने मन में कोई बात छिपा कर नहीं रखते थे। पंजाब की पुकार का उन्होंने तत्क्षण जवाब दिया। उनकी आयु के और ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसने जीवन में कभी कोई मुसीबत नहीं झेली, जेलों की सख्तियां बर्दाश्त करना कोई मजाक नहीं था। लेकिन उनकी श्रद्धा ने हरेक कठिनाई को विजय कर लिया। हँसते-हँसाते खेडा के किसानों की तरह ही सादा जीवन व्यतीत करते, उन्हींका-सा खाना खाते और सब मौसमों में उन्हींकी रद्दी-सद्दी गाडियों में सफर करने की क्षमता से अनेक नौजवानों को उनके सामने शर्मिंदा होना पडा। ऐसी असुविधाओं के बारे में, जिन्हें कि बचाया जा सकता हो, मैंने उनको कभी शिकायत करते हुए नहीं सुना। "क्यों?" का प्रश्न करना उनका काम नहीं था, वह तो काम करने और अपनेको झोंक देने की बात जानते थे। हालांकि एक समय चीफ जज की हैसियत से उन्हें किसीको मृत्युदण्ड देने और अपनी आज्ञा-पालन कराने की सत्ता प्राप्त थी, फिर भी बिना किसी उज्र के अनुशासन पालन करने की आश्चर्यजनक क्षमता उन्होंने प्रदर्शित की। वह मनुष्य-जाति के विरले सेवकों में से थे। भारत-सेवक भी वह इसीलिए थे कि वह मनुष्य-जाति के सेवक थे। ईश्वर को वह दरिद्र-नारायण के रूप में मानते थे। उनका विश्वास था कि परमेश्वर दीन-दुखियों के बीच ही रहता है। अब्बास मियां का शरीर यद्यपि इस समय कब्र में विश्राम कर रहा है, पर वह मरे नहीं हैं। उनका जीवन हम सबके लिए एक स्फूर्ति है, एक प्रेरणा है।[1]

---

[1] हरिजन सेवक, २०-८-३६

: १३ :

देशबंधु चित्तरंजन दास

देशबंधु दास एक महान् पुरुष थे। मै गत छ वर्षो से उन्हें जानता हूं। कुछ ही दिन पहले जब मै दार्जिलिग से उनसे विदा हुआ था तब मैंने एक मित्र से कहा था कि जितनी ही घनिष्ठता उनसे बढती है उतना ही उनके प्रति मेरा प्रेम बढता जाता है। मैंने दार्जिलिग मे देखा कि उनके मन मे भारत की भलाई के सिवा और कोई विचार न था। वह भारत की स्वाधीनता का ही सपना देखते थे, उसीका विचार करते थे और उसीकी बातचीत करते थे, और कुछ नही। दार्जिलिग से विदा होते समय भी उन्होंने मुझसे कहा था कि आप बिछुडे हुए दलों को एक करने के लिए बगाल मे अधिक समय तक ठहरिये, ताकि सब लोगो की शक्ति एक कार्य के लिए युक्त हो जाय। मेरी बगाल-यात्रा मे उनसे मत-भेद रखनेवालो ने भी बिना हिचकिचाहट के इस बात को स्वीकार किया है कि बगाल मे ऐसा कोई मनुष्य नही है, जो उनका स्थान ले सके। वह निर्भीक थे, वीर थे। बंगाल मे नवयुवको के प्रति उनका निस्सीम स्नेह था। किसी नवयुवक ने मुझसे ऐसा नही कहा कि देशबधु से सहायता मांगने पर कभी किसीकी प्रार्थना खाली गई। उन्होंने लाखो रुपया पैदा किया और लाखों रुपया बंगाल के नवयुवको मे बाट दिया। उनका त्याग अनुपम था, और उनकी महान् बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता की बात मै क्या कह सकता हू! दार्जिलिग मे उन्होने मुझसे अनेक बार कहा कि भारत की स्वाधीनता अहिसा और सत्य पर निर्भर है। . . .

देशबंधु ने पटना और दार्जिलिग मे चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखा का पाठ पढाया था और उन्होने मुझसे वादा किया था कि मै कातना सीखने की कोशिश करूगा और जबतक शरीर रहेगा तबतक कातूगा। उन्होने अपने दार्जिलिग

के निवास-स्थान को 'चरखा-क्लब' बना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वादा किया कि बीमारी की हालत छोडकर मै रोज आध घटे तक स्वय चरखा चलाऊगी और उनकी लडकी, बहन और बहन की लडकी तो बराबर ही चरखा कातती थी।

देशबधु मुझसे अक्सर कहा करते—"मै समझता हू कि धारा सभा मे जाना जरूरी है मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, बल्कि बिना चरखे के धारा सभा के काम को कारगर बनाना असभव है।" उन्होने जबसे खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तब से मरने के दिन तक पहनते आये।

मेरे लिए यह कहने की बात नही है कि उन्होने हिदू-मुसलमानो मे मेल करने के लिए कितना बडा काम किया था। अछूतो से वह कितना प्रेम रखते थे, इसके विषय मे सिर्फ वही एक बात कहूगा जो मैने बारीसाल मे कल रात को एक नाम-शूद्र नेता से सुनी थी। उस नेता ने कहा—"मुझे पहली आर्थिक सहायता देशबधु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने।" देशबधु देश-सेवको मे एक रत्न थे। उनकी सेवा और त्याग बेजोड था। ईश्वर करे, उनकी याद हमे सदा बनी रहे और उनका आदर्श हमारे सदुद्योग मे सार्थक हो। हमारा मार्ग लबा और दुर्गम है। हमको उसमे आत्म-निर्भरता के सिवा और कोई सहारा नही देगा। स्वावलबन ही देशबधु का मुख्य सूत्र था। वह हमे सदा अनुप्राणित करता रहेगा।[1]

* * *

मनुष्यो मे से एक दिग्गज पुरुष उठ गया। १९१९ मे, पजाब महासभा जाच-समिति के सिलसिले मे उनसे पहले-पहल मेरा प्रत्यक्ष परिचय हुआ। मै उनके प्रति सशय और भय के भाव लेकर उनसे मिलने गया था। दूर से ही मैने उनकी धुआधार वकालत और उससे भी अधिक धुआधार वक्तृत्व का हाल सुना था। वह अपनी मोटरकार लेकर सपत्नीक, सपरिवार आये थे और

---

[1] हिंदी नवजीवन, २५-६-२५

एक राजा की शान-बान के साथ रहते थे। मेरा पहला अनुभव तो कुछ अच्छा न रहा। हम हटर-कमिटी की तहकीकात मे गवाहियां दिलाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बैठे थे। मैने उनके अदर तमाम कानूनी बारीकियो को तथा गवाह को जिरह मे तोडकर फौजी कानून के राज्य की, बहुतेरी शरारतो की कलई खोलने की, वकीलोचित तीव्र इच्छा देखी। मेरा प्रयोजन कुछ भिन्न था। मैने अपना कथन उन्हे सुनाया। दूसरी मुलाकात मे मेरे दिल को तसल्ली हुई और मेरा तमाम डर दूर हो गया। उनसे मैने जो कुछ कहा उसको उन्होने उत्सुकता के साथ सुना। भारतवर्ष मे पहली ही बार बहुतेरे देशसेवको के घनिष्ठ समागम मे आने का अवसर मुझे मिला था। तबतक मैने महासभा के किसी काम मे वैसे कोई हिस्सा न लिया था। वह मुझे जानते थे– एक दक्षिण अफ्रीका का योद्धा है। पर मेरे तमाम साथियो ने मुझे अपने घर का-सा बना लिया, और देश के इस विख्यात सेवक का नबर इसमे सबसे आगे था। मै उस समिति का अध्यक्ष माना जाता था। "जिन बातो मे हमारा मतभेद होगा उनमे मै अपना कथन आपके सामने उपस्थित कर दूगा। फिर जो फैसला आप करेगे उसे मै मान लूगा। इसका यकीन मै आपको दिलाता हू।" उनके इस स्वयंस्फूर्त आश्वासन के पहले ही हममे इतनी घनिष्ठता हो गई थी कि मुझे अपने मन का सशय उनपर प्रकट करने का साहस हो गया। फिर जब उनकी ओर से यह आश्वासन मिल गया तब मुझे ऐसे मित्रनिष्ठ साथी पर अभिमान तो हुआ, किंतु साथ ही कुछ सकोच भी मालूम हुआ, क्योकि मै जानता था कि मै तो भारत की राजनीति मे एक नौसिखिया था और शायद ही ऐसे पूर्ण विश्वास का अधिकारी था। परतु तंत्र-निष्ठा छोटे-बड़े के भेद को नही जानती। वह राजा जो कि तत्र-निष्ठा के मूल्य को जानता है, अपने सेवक की भी बात, उस मामले मे मानता है, जिसका पूरा भार उसपर छोड़ देता है। इस जगह मेरा स्थान एक सेवक के जैसा था। और मे इस बात का उल्लेख कृतज्ञता और अभिमान के साथ करता

हू कि मुझे जितने मित्र-निष्ठ साथी वहा मिले थे, उनमे कोई इतना मित्र-निष्ठ न था जितना चित्तरजन दास थे।

अमृतसर-धारा-सभा मे तत्र-निष्ठ का अधिकार मुझे नही मिल सकता था। वहा हम परस्पर योद्धा थे, हर शख्स को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्र-हित-सबधी अपने ट्रस्ट की रक्षा करनी थी, जहा तर्क अथवा अपने पक्ष की आवश्यकता के अलावा किसीकी बात मान लेने का सवाल न था। महासभा के मच पर पहली लडाई लडना मेरे लिए एक पूरे आनद और तृप्ति का विषय था। वडे सभ्य, उसी तरह न झुकनेवाले महान् मालवीयजी बला-बल को सामने रखने की कोशिश कर रहे थे। कभी एक के पास जाते थे, कभी दूसरे के पास। महासभा के अध्यक्ष पडित मोतीलाल-जी ने सोचा कि खेल खतम हो गया। मेरी तो लोकमान्य और देशबधु से खासी जम रही थी। सुधार-सबधी प्रस्ताव का एक ही सूत्र उन दोनो ने बना रखा था। हम एक-दूसरे को समझा देना चाहते थे, पर कोई किसीका कायल न होता था। बहुतो ने तो सोचा था कि अब कोई चारा नही था और इसका अत बुरा रहेगा। अलीभाई, जिन्हे मै जानता था और चाहता था, पर आज की तरह जिनसे मेरा परिचय न था, देशबधु के प्रस्ताव के पक्ष मे मुझे समझाने लगे। मुहम्मद अली ने अपनी लुभावनी नम्रता से कहा, "जाच-समिति मे आपने जो महान् कार्य किया है, उसे नष्ट न कीजिये।" पर वह मुझे न पटा सके। तब जयरामदास वह ठडे दिमागवाला सिधी आया, और उसने एक चिट मे समझौते की सूचना और उसकी हिमायत लिखकर मेरे पास पहुचाई। मै शायद ही उन्हे जानता था। पर उनकी आखो और चेहरे मे कोई ऐसी बात थी जिसने मुझे लुभा लिया। मैने उस सूचना को पढा। वह अच्छी थी। मैने उसे देशबधु को दिया। उन्होने जवाब दिया, "ठीक है, बशर्तेकि हमारे पक्ष के लोग उसे मान ले।" यहा ध्यान दीजिये उनकी घनिष्ठता पर। अपने पक्ष के लोगो का समाधान किये विना वह नही रहना चाहते थे। यही एक रहस्य है लोगो के

हृदय पर उनके आश्चर्यजनक अधिकार का। वह सब लोगो को पसद हुई। लोकमान्य अपनी गरुड के सदृश तीखी आखो से वहा जो कुछ हो रहा था सब देख रहे थे। व्याख्यान-मंच से पडित मालवीयजी की गंगा के सदृश वाग्धारा बह रही थी। उनकी एक आख सभामच की ओर देख रही थी जहाकि हम साधारण लोग बैठकर राष्ट्र के भाग्य का निर्णय कर रहे थे। लोकमान्य ने कहा— "मेरे देखने की जरूरत नही। यदि दास ने उसे पसद कर लिया है तो मेरे लिए वह काफी है।" मालवीयजी ने उसे वहा से सुना, कागज मेरे हाथ से छीन लिया और घोर करतल ध्वनि से घोषित कर दिया कि समझौता हो गया। मैंने इस घटना का सविस्तर वर्णन इसलिए किया है कि उसमे देशबधु की महत्ता और निर्विवाद नेतृत्व, कार्य-विषयक दृढता, निर्णय-सबधी समझदारी और पक्ष-निष्ठा के कारणो का सग्रह आ जाता ह।

अब और आगे बढिये। हम जुहू, अहमदाबाद, दिल्ली और दार्जिलिग पहुंचते हैं। जुहू मे वे और पडित मोतीलालज़ी मुझे अपने पक्ष मे मिलाने के लिए आये। वह दोनो जोडवां भाई हो गये थे। हमारे दृष्टि-बिदु अलग-अलग थे, पर उन्हे यह गवारा न होता था कि मेरे साथ मतभेद रहे। यदि उनके बस का होता तो वे ५० मील चले जाते जहा मै सिर्फ २५ मील चाहता, परतु वे अपने एक अत्यत प्रिय मित्र के सामने भी एक इच न झुकना चाहते थे, जहा कि देशहित सकट मे था। हमने एक प्रकार का समझौता कर लिया। हमारा मन तो न भरा, पर हम निराश न हुए। हम एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे। फिर हम अहमदाबाद मे मिले। देशबधु अपने पूरे रग मे थे और एक चतुर खिलाडी की तरह सब रग-ढग देखते थे। उन्होने मुझे एक शान की शिकस्त दी। उनके जैसे मित्र के हाथो ऐसी कितनी शिकस्त मै न खाऊंगा! पर अफसोस! वह शरीर अब दुनिया मे नही रहा!

. . वह अक्सर आध्यात्मिकता की बाते करते थे और कहते

थे कि धर्म के विषय मे आपका मेरा कोई मतभेद नही है। परयद्यपि उन्होने कहा नही तथापि हो सकता है कि उनका भाव यह रहा हो कि मै इतना काव्यहीन हू कि मुझे हमारे विश्वासो की एकात्मता नही दिखाई देती। मै मानता हू कि उनका खयाल ठीक था। उन बहुमूल्य पाच दिनो मे मैने उनका हर कार्य धर्ममय देखा और न केवल वह महान् थे, बल्कि नेक भी थे, उनकी नेकी बढती जा रही थी।

जबकि क्रूर दैव ने लोकमान्य को हमसे छीन लिया तब मै अकेला असहाय रह गया। अभी तक मेरी वह चोट गई नही है, क्योकि अबतक मुझे उनके प्रिय शिष्यो की आराधना करनी पडती है। पर देशबधु के वियोग ने तो मुझे और भी बुरी हालत मे छोड दिया है।[1]

... ...

उनका त्याग महान् था। उनकी उदारता की सीमा न थी। उनकी मुट्ठी सदा सबके लिए खुली रहती थी। दान देने मे वह कभी आगा-पीछा न सोचते थे। उस दिन मैने बडे मीठे भाव से कहा, "अच्छा होता, आप दान देने मे अधिक विचार से काम लेते।" उन्होने तुरत उत्तर दिया, "पर मै नही समझता कि अपने अविचार के कारण मेरी कुछ हानि हुई है।" अमीर और गरीब सबके लिए उनका रसोई-घर खुला था। उनका हृदय हरेक की मुसीबत के समय उसके पास दौड जाता था। सारे बगाल मे ऐसा कौन नवयुवक है, जो किसी-न-किसी रूप में देशबधु का कृतज्ञ नही है? उनकी बेजोड कानूनी प्रतिभा भी सदा गरीबो की सेवा के लिए हाजिर रहती थी। मुझे मालूम हुआ है कि उन्होने यदि सबकी नही तो, बहुतेरे राजनैतिक कैदियो की पैरवी बिना एक कौडी लिये की है। पजाब की जाच के समय जब वह पजाब गये तो अपना सारा खर्च अपनी जेब से किया था। उन दिनो अपने

---

[1] हिंदी नवजीवन २५-६-२५

साथ वह एक राजा की तरह लवाजमा ले गये थे। उन्होने मुझसे कहा था कि पजाब की उस यात्रा मे उनके पचास हजार रुपये खर्च हुए थे। जो उनके द्वार पर आता था उसीके लिए उनकी उदारता का हाथ आगे बढ जाता था। उनके इसी गुण ने उन्हे हजारो नवयुवको के दिल का राजा बना दिया था।

जैसे ही वह उदार थे वैसे ही निर्भीक भी थे अमृतसर मे उनकी धुआधार वक्तृताओ ने मेरा दम खुश्क कर दिया था। वह अपने देश की मुक्ति तुरत चाहते थे। वह एक विशेषण को हटाने या बदलने के लिए तैयार न थे इसलिए नही कि वह जिद्दी थे, बल्कि इसलिए कि वह अपने देश को बहुत चाहते थे। उन्होने विशाल शक्तियो को अपने कब्जे मे रखा। अपने अदम्य उत्साह और अध्यवसाय के द्वारा उन्होने अपने दल को प्रबल बनाया। परतु यह भीषण शक्ति-प्रवाह उनकी जान ले बैठा। उनका यह बलिदान स्वेच्छापूर्वक था। वह उच्च था, उदात्त था।[१]

कलकत्ता १८ ता० को पागल हो गया था। अक-शास्त्री कहते है कि २ लाख से कम आदमी इकट्ठे न हुए थे। रास्तो पर खड़े, तार के खभो पर चढे, ट्राम की छत पर खडे, झरोखो मे राह देखते हुए बैठे स्त्री-पुरुष इससे जुदा है।

साथ भजन-कीर्तन तो था ही। पुष्पो की वृष्टि हो रही थी। शव खुला हुआ था, परतु उसपर फूलो के हार का पहाड बिछ गया था।

अर्थी के जुलूस के आगे स्वयसेवक फुलवाड़ी लेकर चल रहे थे। उसमे फूलो से सुसज्जित चरखा था। जुलूस स्टेशन से ७-३० पर चलकर श्मशान मे ३ बजे पहुचा। ३-३० बजे अग्नि-सस्कार शुरू हुआ।

श्मशान-घाट पर भीड उमडी थी। पीछे से जो भीड उमडती थी उसे रोकना अति कठिन था और मै समझता हू कि यदि मुझे

---

[१] हिंदी नवजीवन २५-६-२५

हट्टे-कट्टे लोगो ने अपने कधे पर बिठाकर इस उमडती हुइ भीड़ के सामने न उठा रखा होता तो भयकर दुर्घटना हो जाती। दो सशक्त आदमियो ने मुझे अपने कधे पर बिठा रखा और उस हालत मे मै लोगो को रोक रहा था और उनसे बैठ जाने की प्रार्थना कर रहा था। लोग जबतक मुझे देखते थे तबतक तो मानते थे, पर मै जहा अशाति की आशका होती उस ओर गया कि मेरी पीठ फिरते ही लोग तुरत उठ खडे हो जाते थे। सब लोग दीवाने हो गये थे। हजारो आखे रथी की ओर लगी हुई थी। जब दाहकर्म शुरू हुआ तब लोग धीरज खो बैठे। सब बरबस खडे हो गये और चिता की ओर खिच पडे। यदि एक भी क्षण का विलब होता तो सबके चिता पर गिर पडने का अदेशा था। अब क्या करे ? मैने लोगो से कहा, "अब काम पूरा हुआ। सब अपने-अपने घर जावे।" और मुझे उठानेवाले भाइयो से कहा, "अब मुझे इस भीड़ से हटा ले चलो।" लोगो को मै पुकार-पुकारकर और इशारे से कहता चला कि मेरे पीछे आओ। इसका असर बहुत अच्छा हुआ, वह हजारो की भीड वापस लौटी और दुर्घटना होते-होते बची। चिता चदन की लकडी की बनाई गई थी।

लोग ऐसे मालूम होते थे मानो वन-भोज को आये हो। गंभीरता तो सबके चेहरे पर थी, पर ऐसा नही मालूम होता था कि वे शोक-भार से दब गये है। कुटुम्बियो का और मेरा शोक स्वार्थ-पूर्ण मालूम होता था। हमारे तत्व-ज्ञान का अत आ गया, लोगो का कायम रहा, क्योकि वे तटस्थ थे। उनके अदर सम्मान का भाव तो पूरा-पूरा था। उनकी पूजा नि स्वार्थ थी। वे तो भारत-पुत्र को, अपने बधु को, प्रमाणपत्र देने के लिए आये थे। वे अपनी आंखो से और चेष्टा से ऐसा कहते हुए दिखाई देते थे, "तुमने बडा काम किया, तुम्हारे जैसे हजारो हो!"

देशबधु जैसे भव्य थे वैसे ही भले थे। दार्जिलिग मे इसका बड़ा अनुभव मुझे हुआ। उन्होने धर्म-सबधी बाते की। जिनकी छाप उनके दिल पर गहरी बैठी, उनकी बाते की। वह धर्म का अनु-

भव-ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। "दूसरे देश मे जो कुछ हो, पर इस देश का उद्धार तो शातिमार्ग से ही हो सकता है। मै यहां के नवयुवकों को दिखला दूगा कि हम शाति के रास्ते स्वराज्य प्राप्त कर सकते है।" "यदि हम भले हो जायगे तो अग्रेजो को भला बना लेगे।" "इस अधकार और दभ मे मुझे सत्य के सिवा दूसरा कोई रास्ता नही दिखाई देता। दूसरे की हमे आवश्यकता भी नही।" "मै तमाम दलो मे मेल कराना चाहता हू। बाधा सिर्फ इतनी ही है कि हमारे लोग भीरु है। उनको एकत्र करने के प्रयत्न मे होता क्या है कि हमे भीरु बनना पडता है। तुम जरूर सबको मिलाने की कोशिश करना और मिलना, पत्र-सपादको को समझाना कि मेरी और स्वराज्य-दल की ख्वामख्वा निदा करने से क्या लाभ? मैने यदि भूल की हो तो मुझे बतावे। मै यदि उन्हे सतुष्ट न करू तो फिर शौक से पेट भर के मेरी निदा करे।" "तुम्हारे चरखे का रहस्य मै दिन-दिन अधिक समझता जाता हू। मेरा कधा यदि दर्द न करता हो और इसमे मेरी गति कुठित न हो तो मै तुरत सीख लू। एक बार सीखने पर नियमपूर्वक कातने मे मेरा जी न ऊबेगा। पर सीखते हुए जी उकता उठता है। देखो न, तार टूटते ही जाते है।" "पर आप ऐसा किस तरह कह सकते है? स्वराज्य के लिए आप क्या नही कर सकते।" "हा-हा, यह तो ठीक ही है। मै कहा सीखने से नाही करता हूं? मै तो अपनी कठिनाई बताता हू। पूछो तो वासतीदेवी से कि ऐसे काम मे मै कितना मंदबुद्धि हू?" वासतीदेवी ने उनकी मदद की, "ये सच कहते है। अपना कलमदान खोलना हो तो ताला लगाने मुझे आना पडता है।" मैने कहा, "यह तो आपकी चालाकी है। इस तरह आपने देशबंधु को अपग बना रखा है, जिससे उन्हे सदा आपकी खुशामद करनी पडे और आप पर सहारा रखना पडे।" हँसी से कमरा गूज उठा। देशबधु मध्यस्थ हुए। "एक महीने बाद मेरी परीक्षा लेना। उस समय मै रस्सियां निकालता न मिलूगा।" मैने कहा, "ठीक है। आपके लिए सतीशबाबू शिक्षक भी भेजे देगे। आप जब पास

हो जायगे तो समझियेगा कि स्वराज्य नजदीक आ गया।" ऐसे सब विनोदो का वर्णन करने लगू तो खात्मा नही हो सकता।

कितने ही सस्मरण तो ऐसे है, जिनका वर्णन मै कर ही नही सकता।

मै जिस प्रेम का अनुभव वहा कर रहा था उसकी कुछ झलक यदि यहा न दिखाऊ तो मै कृतघ्न माना जाऊगा। वह छोटी-छोटी-सी बात की सभाल रखते थे। मेवे खुद कलकत्ते से मगवाते। दार्जिलिग मे बकरी या बकरी का दूध मिलना मुश्किल पडता है। इसलिए ठेठ तलहटी से पाच बकरिया मगवा कर रखी। मेरी जरूरत की एक-एक चीज का इतजाम किये बगैर न रहते थे। हमारे कमरे के दरम्यान सिर्फ एक दीवार थी। सुबह होते ही, काम-काज से निबटकर, मेरी राह देखते बैठते। चारपाई पर बैठते थे, चारपाई अभी नही छूटी थी। पल्थी मारकर बैठने की मेरी आदत से परिचित थे। सो कुरसी पर नही बैठने देते थे। खटिया पर ही अपने सामने मुझे बैठाते। गद्दे पर भी कुछ खास तौर पर बिछवाते और तकिया भी लगवाते। मुझसे दिल्लगी किये विना न रहा गया, "यह दृश्य तो मुझे चालीस बरस पहले की याद दिलाता है। जब मेरी शादी हुई थी तब हम दुलहे-दुलहिन इस तरह बैठे थे। अब यहा पाणि-ग्रहण की ही कसर है।" मेरे कहने की देर थी कि देशबधु के कहकहे से सारा घर गूज उठा। देशबधु जब हँसते तो उनकी आवाज दूर तक पहुचे विना न रहती।

देशबधु का हृदय दिन-पर-दिन कोमल होता जाता था। रूढि के अनुसार मास-मछली खाने मे उन्हे कोई विधि-निषेध न था। फिर भी जब असहयोग शुरू हुआ तब मासाहार, मद्यपान और चुरट तीनो चीजे उन्होने छोड दी थी। पीछे जाकर फिर उन्होने अपना जोर जमाया था, परतु उनका झुकाव इनको छोडने की ओर ही रहता था। अभी कुछ दिनो से राधास्वामी सप्रदाय के एक साधु से उनका समागम हुआ। तब से निरामिष भोजन की उत्सुकता बढ गई थी। सो जबसे वह दार्जिलिग गये, निरामिष भोजन शुरू

किया था। और मेरे रहने तक घर में मास-मछली न आने दिया। मुझसे अनेक बार कहा, "यदि मुझसे हो सका तो अब से मै मास-मछली को छुऊगा तक नही। मुझे वह पसद थी नही और मै समझता हू कि इससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति मे बाधा पहुचती है। मेरे गुरु ने मुझे खास तौर पर कहा कि साधना के खातिर तुम्हे मासाहार अवश्य छोड देना चाहिए।"[1]

... ...

यदि हमे देशबधु की आत्मा को शाति दिलाना हो तो हमारे पास एक ही इलाज है। उनके तमाम सद्गुणों को हम अपने अदर पैदा करे। कितने ही सद्गुण तो अवश्य पैदा कर सकते है। उनके सदृश अग्रेजी चाहे हमे न आसके, उनकी तरह वकील हम सब न हो सके, धारासभा मे जाने की शक्ति उनके सदृश हमारे पास न हो, पर हमारे अदर उनके जैसा देशप्रेम तो हो सकता है। उनके बराबर उदारता हम सीख सकते है। उनके वरावर धन हम चाहे न दे सके, परतु जो यथाशक्ति देते है, उन्होंने बहुत-कुछ दे दिया है। विधवा के एक तावे के छल्ले की कीमत महाराज के करोडो मे से दिये हजार की कीमत से ज्यादा है। देशबधु ने खादी पहनने के बाद फिर घर मे या बाहर उसका त्याग नही किया। क्या हम खादी पहनेगे? देशबधु ने महीन खादी कभी न चाही उन्होन तो मोटी खादी को ही पसद किया था। देशबधु ने कातने का प्रयत्न किया। जिन्होने शुरू नही किया, क्या वे अव करेगे?[2]

: १४ :

महादेव देसाई

महादेव की अकस्मात् मृत्यु हो गई। पहले जरा भी पता

---

[1] हिंदी नवजीवन, २-७-२५
[2] हिंदी नवजीवन, ९-७-२५

नही चला । रात अच्छी तरह सोये । नाश्ता किया । मेरे साथ टहले । सुशीला[1] और जेल के डाक्टरो ने, जो कुछ कर सकते थे, किया लेकिन ईश्वर की मर्जी कुछ और थी । सुशीला और मैने शव को स्नान कराया । शरीर शाति से पडा है, फूलो से ढका है, धूप जल रही है । सुशीला और मै गीता-पाठ कर रहे है । महादेव की योगी और देशभक्त की भाति मृत्यु हुई है । दुर्गा, बाबला और सुशीला से कहो, शोक करने की मनाई है । ऐसी महान् मृत्यु पर हर्ष ही होना चाहिए । अत्येष्ठि मेरे सामने हो रही है । भस्म रख लूगा ।[2]

. . . . . .

भावना तो महादेव की खुराक थी । उसका बलिदान कोई छोटी चीज नही है । अकेला भी वह बहुत काम करेगा । मै इसे शुभ शकुन मानता हू । शुद्धतम बलिदान हुआ है, इसका परिणाम अशुभ नही हो सकता । महादेव मेरा अतिरिक्त शरीर था । कितनी दफा मैने उसे मैक्सवेल के पास भेजा है, दूसरो के पास भेजा है । मान लेता था कि महादेव को काम सौपा है तो वह कर लेगा ।

.

उसे मेरा वारिस होना था, पर मुझे उसका वारिस होना पडा है । महादेव की समाधि पर जाना मेरे लिए बिल्कुल सहज बन गया है । मै न जाऊ तो बेचैन हो जाऊ । वहा जाकर मै कुछ करना नही चाहता, समय भी नही देना चाहता, मगर हो आता हूं, इतना ही मेरे लिए बस है । अगर मै जिदा रहा तो यह जमीन आगाखा[3] से माग लूगा । वह न दे, यह सभव हो सकता है । मगर किसी रोज तो हिदुस्तान आजाद होगा । तब यह यात्रा का स्थान बनेगा । मै वहा जाता हू तो महादेव के गुणो का स्मरण करने के लिए, उन्हे ग्रहण करने के लिए । मै उसकी स्मृति को

---

[1] डा० सुशीला नैयर [2] आगाखा महल से १५-८-४२ को दिया तार

[3] महादेवभाई की मृत्यु आगाखा महल में हुई थी ।

खोना नही चाहता। और जिस तरह से वह यहा मरा, उससे उसकी स्त्री और उसके लड़के के प्रति मेरी वफादारी भी मुझे वताती है कि मुझे वहां नियमित रूप से जाना चाहिए। हो सकता है कि मेरी जिदगी मे यह जगह मुझे न मिल सके और इस जगह को यात्रा-स्थल वनते मै न देख सकू, मगर किसी-न-किसी दिन वह जरूर वनेगा, इतना मै जानता हू।

आज तो मै सब काम उसका काम समझकर करता हू। वाहर जाऊंगा तब भी उसीका काम करूगा।

... ...

... लगता ही नही कि महादेव सदा के लिए गया। कल रात को स्वप्न मे वह लड़की .. कहती है, "महादेवभाई कहां है?" मै उत्तर देता हूं, "वहन, मै तो उसे श्मशान मे छोड़ आया हू।" पीछे वह पागल-सी हो जाती है, कहती है, "लाओ महादेव-भाई को! उसे वहा क्यो छोड आये?" .... महादेव की मै भाट की तरह स्तुति करता हू, मगर मेरा मन उसकी शिकायत भी करता है। उसकी मिसाल संपूर्ण या आदर्श नही मानना चाहिए। वह इस विचार का जप करते-करते चला गया कि मै वापू के वाद क्या कर सकता हू? वापू से पहले चला जाऊ तो अच्छा है। मगर उसे तो कहना चाहिए था कि "नही, मुझे तो जिदा रहना है और वापू का काम करना है।" यह दृढ सकल्प उसे मरने से रोक भी लेता।[1]

... ...

मेरे विचार से महादेव के चरित्र की सवसे वड़ी खूवी थी मौका पडने पर अपनेको भूलकर शून्यवत् वन जाने की उनकी शक्ति।[2]

... ...

जमनालाल, मगनलाल और महादेव—इनमे से हरेक

---

[1] कारावास-कहानी [2] हरिजन सेवक १२-८-४६

अपने-अपने क्षेत्र मे अनूठे थे। मेरा खयाल है कि उनकी जगह दूसरे नही ले सकते। मगर मै कहूगा कि इन तीनो मे से महादेव मुझमे पूरी तरह खो गया था। मै यह कह सकता हू कि मुझसे अलग उसकी कोई हस्ती ही नही रह गई थी।

महादेव की एक बडी खूबी यह थी कि जो काम उन्हे सौपा जाता था, उसे करने के लिए वह सदा तैयार रहते और बडे उत्साह से करते थे। इसी तरह वह एक अच्छे लेखक, अच्छे रसोइया और अच्छे कुली बन सके थे। अक्सर जो लोग मेरे साथ काम करने के लिए आते है, वे ऐसे ही बन जाते है।[1]

••

महादेव गुलाब का फूल है।[2]

•

वह मेरे बॉसवेल (जीवनी लिखनेवाले) बनना चाहते थे, फिर भी मुझसे पहले मरना चाहते थे। इससे बेहतर वह क्या कर सकते थे? सो वह तो चले गये और मुझे उनकी जीवनी लिखने के लिए छोड गये। बच्चे अपने मा-बाप के पहले मरना चाहे तो इससे बढकर बेरहमी और क्या हो सकती है? यह उनका निरा स्वार्थ है। भले ही मै दूसरो को इस बात का यकीन न दिला सकू, लेकिन यह मै जरूर महसूस करता हू कि मौत कभी वक्त से पहले नही आती। दुनिया मे अपना काम खत्म करने से पहले कोई मर्द या औरत कभी नही मरता। महादेव ने पचास साल मे सौ बरस का काम पूरा कर डाला था। सो वह आराम करने चले गये, जिसपर उनका पूरा हक था।[3]

... ...

महादेव के मित्र और प्रशसक उनके प्रिय काम करके ही उनकी बरसी मना सकते है। वह बडे शक्तिशाली पुरुष थे। वह सुदर

---

[1] हरिजन सेवक १८-८-४६ [2] हरिजन सेवक, १८-८-४६

[3] हरिजन सेवक १८-८-४६

और सुडौल अक्षर लिखते थे। वह कई चीजो से प्यार करते थे। लेकिन उन सवमे चर्खे की जगह पहली थी। एक कलाकार होने के नाते वह नियम से वहुत बढिया कताई करते थे। कामकाज के भारी बोझ से थककर चूर हो जाने पर भी वह हमेशा कातने का वक्त निकाल लेते थे। चर्खा उन्हे फिर तरोताजा बना देता था।

उनकी कई खूबियों मे उनके बेजोड अक्षर भी कोई कम महत्व नही रखते थे। उसमे कोई उनका सानी न था। रामदास स्वामी ने अपने एक दोहे मे खूबसूरत अक्षरो की चमकीले मोतियो से तुलना की है। महादेव की कलम से निकले हुए अक्षर खरे मोती जैसे होते थे।

उनकी तीसरी खूबी थी, हिदुस्तान की भाषाओ से उनका प्रेम। वह भाषा-शास्त्री थे। वगाली, मराठी और हिंदी पर उनका पूरा अधिकार था और वह उर्दू भी सीख चुके थे।[1]

: १५ :

सरोजिनी नायडू

सरोजिनी देवी आगामी वर्ष के लिए महासभा[2] की सभा-नेत्री निर्वाचित हो गई। यह सम्मान उनको पिछले वर्ष ही दिया जानेवाला था। वडी योग्यता द्वारा उन्होने यह सम्मान प्राप्त किया है। उनकी असीम शक्ति के लिए और पूर्व और दक्षिण अफ्रीका मे राष्ट्रीय प्रतिनिधि के रूप मे की गई महान सेवा के लिए वह इस सम्मान की पात्र है और आजकल के दिनो मे जबकि स्त्री-जाति के अदर भारी जागृति हो रही है, स्वागत-कारिणी-समिति का भारतवर्ष की एक सर्वोत्तम प्रतिभाशालिनी पुत्री को सभापति चुनना भारतवर्ष की स्त्री-जाति का समुचित सम्मान करना है। उनके सभापति चुने जाने से हमारे प्रवासी देश-भाइयो

---

[1] हरिजन सेवक, ८-९-४६

[2] कांग्रेस

को पूर्ण सतोष होगा और इससे उनके अदर वह साहस पैदा होगा, जिससे वे अपने सामने उपस्थित लड़ाई को लड सकेगे। राष्ट्र द्वारा दिये जाने वाले सबसे ऊचे पद पर उनका होना स्वतत्रता को हमारे अधिक समीप लावे।[१]

•

अमेरिका के लिए श्री सरोजिनीदेवी ने गत १२ ता० को हिंदुस्तान का किनारा छोडा। यूरोप, अमेरिका, इत्यादि मुल्को मे अपनी स्थायी सभाए स्थापित करके या समय-समय पर अपने प्रतिनिधि भेजकर हमारे बारे मे जो झूठी मान्यताए प्रचलित हो गई है, उन्हे दूर करने की आशा अनेक आदमी रखते है। मुझे यह आशा हमेशा ही गलत जान पडी है। ऐसा करने से हम सार्वजनिक धन का और जिनका और अच्छा उपयोग हो सकता है, उन लोगो के समय का दुरुपयोग करेगे। किंतु पश्चिम मे अगर किसीका जाना फल सकता है तो सरोजिनीदेवी का या कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जाना अवश्य फल सकता है। सरोजिनीदेवी का नाम उनके काव्यो से पश्चिम मे प्रसिद्ध है। उनमे चतुराई भी वैसी ही है। उन्हे यह भली-भाति मालूम है कि कहा, क्या और कितना कहना चाहिए। किसीको दु ख पहुचाये बिना खरी-खरी सुना देने की कला उन्होने साधी है। जहा कही वह जाती है, उनकी बात सुने बिना लोगो का काम चलता ही नही है। दक्षिण अफ्रीका मे अपनी शक्ति का सपूर्ण उपयोग करके उन्होने वहा के अग्रेजो का मन हरण किया था और सुदर विजय प्राप्त करके सर हबीबुल्ला-प्रतिनिधि-मडल का रास्ता साफ किया था। वहा का काम कठिन था, किंतु वहापर उन्होंने अपनी मर्यादा निश्चित करके कानून के जाल-पेचो मे न पडते हुए, मुख्य बात मे लगे रहकर अपना काम भली-भाति किया था और हिंदुस्तान का नाम चमकाया था। ऐसा ही काम वे अमेरिका आदि देशो मे भी करेगी।

---

[१] हिंदी नवजीवन, ८-१०-२५

अमेरिका मे उनकी हाजिरी ही मिस मेयो के असत्य का जवाब हो जायगी। उनका साहस भी उनकी दूसरी शक्तियो के ही समान है। परदेश जाने मे न तो उन्हे किसी सहायक की आवश्यकता रहती है और न किसी मत्री की ही। जहा कही जाना हो वह अकेले निर्भयता से विचर सकती है। उनकी ऐसी निर्भयता स्त्रियों के लिए तो अनुकरणीय है ही, पुरुषो को भी लजानेवाली है। हम अवश्य यह आशा रख सकते है कि उनकी पश्चिम की यात्रा मे से अच्छा फल निकलेगा।[1]

अमेरिका से कई-एक मित्रो के पत्र बराबर मेरे पास आते रहते है, जिनमे सरोजिनीदेवी के काम की प्रशसा रहती है। मित्र लिखते है कि सरोजिनीदेवी अमेरिका मे बडे महत्व का काम कर रही है और अपनी सारी ईश्वरदत्त प्रतिभा का इस देश के लिए पूरा-पूरा उपयोग कर रही है। इसमे शका नही कि उन्होने अमेरिकावासियो का मन मोह लिया है। कनाडा की एक बहन ने एक लबे पत्र मे अपने कुछ अनुभव लिखकर भेजे है, उसमें थोड़ी सी वाते नीचे देता हूं :

"सरोजिनी देवी थोडे समय के लिए मेरी मेहमान बनी थी। आपके उन मित्र और दूत से मिलकर मैंने अपने-आपको वडभागी पाया है। मै खुद एक स्त्री हू, वह भी स्त्री ही है। साथ ही वह तो कवि और सुधारक है, इसीलिए उन्होने मेरा हृदय और भी चुरा लिया है। उनकी आत्मा का मुझपर वहुत ज्यादा असर हुआ है और इतने दिन के वाद भी उनके मिलाप की वात हमारे हृदय मे जैसी-की-तैसी बनी हुई है। जिस गिरजाघर मे सरोजिनीदेवी ने व्याख्यान दिया था वह तो श्रोताओ से खचाखच भर गया था। उनके ज्ञान की, उनके अनुभवो की, उनकी काव्य-शक्ति की, उनके मधुर कोकिल कंठ की, उनके विनोद की—और अंग्रेजी भाषा पर उनके प्रभुत्व की मै

---

[1] हिंदी नवजीवन, २०-९-२८

आपसे क्या बात कहू ? जैसे-जैसे उनकी वाणी का प्रवाह बढता गया, वैसे-वैसे लोग मारे आश्चर्य के चकित होते गये और आखिरकार उनके गुणो पर पूरे-पूरे मुग्ध हो गये । उन्होने हमारे सामने जितनी भी समस्याए रखी, हममे से कोई भी उनका उत्तर न दे सका । मेरे पास एक व्यवहार-कुशल व्यापारी बैठे हुए थे, उन्होने समाधिवत् होकर उनका सारा व्याख्यान सुना । जो प्रश्न पूछे गये सरोजिनीदेवी ने उनके ठीक-ठीक उत्तर दिये और बीच-बीच में जिस ढग से उन्होने विनोद का सहारा लिया उसे देखकर तो पूर्वोक्त व्यापारी महाशय से बोले बिना न रहा गया । उन्होने कहा, 'ऐसी शक्ति तो मैने किसी भी दूसरी स्त्री मे नही देखी । अगर सच कहू, मेरी राय मे कोई भी पुरुष इनके मुकाबले मे खडा नही रह सकता ।' वर्तमान भारत के विषय मे उन्होने जो कुछ कहा, वह बहुत ज्यादा असर करनेवाला था । उन्होने हमारी न्याय-प्रियता को जागृत किया, हमारे हृदयो को पानी-पानी कर दिया और हमे उसी समय यह अनुभव होने लगा कि आपके वहा भी उसी तरह का राज्यतत्र होना चाहिए, जैसा हमारे यहा है । सरोजिनीदेवी की रचना मे, मालूम होता है, ईश्वर ने कई रग पूरे है । उनसे भोजन के समय मिलिये या सम्मेलनो मे मिलिये, सामान्य वार्तालाप के लिए मिलिये अथवा और किसी काम के लिए, हर हालत मे उनकी प्रतिभा बिखरी पडती थी । उनके उत्साह का तो पार ही नही है । कई निमत्रणो को स्वीकार कर चुकी है, एक ही दिन मे कई जगह जाती है, लेकिन मालूम नही होता कि थकी हुई है । ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके पास शक्ति का कोई अटूट भडार है ! लोकप्रियता से वह फूल नही उठती । यहा की सब अच्छी चीजे उन्हे पसद है । वह बच्चो को प्यार करती है, सुदर फूल उनका मन चुरा लेते है, हमारे वृक्ष, हमारे सरोवर और हमारी नदिया उन्हे आनद प्रदान करती है, फिर भी वह भविष्य को नही भूलती । यानी, स्त्री-जाति मे जो कमजोरिया रहती है और प्रशसा के कारण जिस तरह बहुधा स्त्रिया अपना आपा भूल

पर सारे राष्ट्र का विश्वास है। खैर, मगर अभी तो श्री वल्लभभाई का कोई प्रश्न ही नही हो सकता। इस समय उनके पास काम भी इतना पड़ा हुआ है कि वह बारडोली छोड़कर दूसरी ओर ध्यान ही नही दे सकते। और फिर दिसवर आने से पहले ही सभव है कि वह सरकार के अनेक वंदीगृहो मे से किसी एक मे उसके अतिथि वनकर पहुंच जाय। मेरा अपना विचार तो यह है कि यह काटो का ताज पडित जवाहरलाल नेहरू को ही मिलना चाहिए। भविष्य तो देश के युवको के ही हाथ मे होना चाहिए। मगर वंगाल तो अगले साल, जवकि वहुत-से तूफानों का भय है, पडित मोतीलाल के ही हाथो महासभा की पतवार देना चाहता है। हम लोगो मे आपस मे फूट है और चारो ओर से हमे एक ऐसा शत्रु घेरे हुए है जो जितना शक्तिशाली है, उतना ही नीति-अनीति से लापरवाह भी। वगाल को इस समय किसी वडे-बूढे की विशेष आवश्यकता है और वह भी ऐसे आदमी की, जिसने उसके गाढे अवसर पर, उसे सभाला हो। अगर सारे हिंदुस्तान के लिए आगे सुख का समय नही आने वाला है तो वगाल के लिए तो और भी नही। इसके तो हजारो कारण है कि पडित मोतीलालजी को ही क्यो यह काटो का ताज धारण करना चाहिए। वह वीर है, उदार है, उनपर सभी दलो का विश्वास है, मुसलमान उन्हे अपना मित्र मानते है, उनके विरोधी भी उनका आदर करते है और अपनी जोरदार दलीलो से वह उन्हे प्राय ही अपनी राय से सहमत कर लेते है और फिर इसके अलावा उनके स्वभाव मे सधि और समझौते की भावना की ऐसी पुट भरी हुई है, जिससे वह किसी ऐसे राष्ट्र के अत्यत योग्य दूत होने लायक है, जिसे सम्मानित समझौते की आवश्यकता है और जो उसे करने के लिए तैयार है। इन्ही वातो पर विचार करके, अत्यंत साहसी वंगाली देशभक्त पडित मोतीलाल नेहरू को ही अगले वर्ष के लिए राष्ट्र का कर्णधार वनाना चाहते है।'[1]

---

[1] हिंदी नवजीवन, २६-७-२८

मैं श्री मोतीलाल नेहरू इत्यादि की याद आपको दिला दूंगा, जिन्होने अपनी कानूनी लियाकत बिल्कुल मुफ्त बाटी और अपने देश की बडी अच्छी तथा विश्वस्त सेवा की। आप मुझे शायद ताना देंगे कि वे लोग इस कारण ऐसा कर सके थे कि वे अपने व्यवसाय मे बड़ी लंबी फीस लेते थे। मै इस तर्क को इस कारण नही मान सकता कि मनमोहन घोष के सिवा मेरा और सबसे परिचय रहा है। अधिक रुपया होने की वजह से इन लोगो ने भारत को आवश्यकता पडने पर अपनी योग्यता उदारतापूर्वक दी हो, ऐसा नही कहा जा सकता। उसका उनकी आराम तथा विलास से रहने की योग्यता से कोई सबध नही है। मैने उनको बडे संतोष से दीनतापूर्वक जीवन-निर्वाह करते देखा है।[1]

... ...

स्वर्गीय मोतीलालजी के चित्र के उद्घाटन का जो सम्मान तुम लोगो ने मुझे दिया है, उसके लिए मै तुम्हारा आभारी हू। तुम्हारे पास उनकी छवि रहे और उनके पवित्र भावो को तुम सदा अपने हृदय मे अकित रखो, यह उचित ही है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नही है कि जैसा सबंध दो सगे-सहोदर भाइयो के बीच होता है, वैसा ही प्रगाढ प्रेम-सबंध मोतीलालजी के और मेरे बीच था। मोतीलालजी की देश-सेवा, मोतीलालजी का त्याग, मोतीलालजी का अपने पुत्र-पुत्रियो के प्रति अनुपम प्रेम, इन सब बातों का परिचय जैसा मुझे था, लगभग वैसा ही तुम्हे भी होना चाहिए। जब से मुझे मोतीलालजी का प्रथम परिचय प्राप्त हुआ, तब से उनके जीवन के अतिम समय तक उनके निकट ससर्ग मे रहने का सद्भाग्य ईश्वर ने मुझे दिया था। मैने देखा कि वह प्रतिक्षण स्वदेशहित का ही चिंतन करते थे। उनके लिए स्वराज्य स्वप्न नही, बल्कि प्राण था। स्वराज्य की उन्हे सदा तृष्णा-पिपासा

---

[1] हिंदी नवजीवन, १२-११-३१

रही और वह दिन-दिन बढ़ती ही गई। ऐसे आदर्श देशभक्त का चित्र अपने सम्मुख रखना उचित ही है।

पडित मोतीलालजी के सद्‌गुणो मे एक गुण यह भी था कि वह अस्पृश्यता नही मानते थे। वह मानो एक राजपुरुष थे। उन्होने तो बेहद रुपया कमाया, उसे सत्कार्यो मे, स्वराज्य के कार्यों में लुटाया। मुझे उनके ऐसे दृष्टांत मालूम है कि उनके हृदय में ऊच-नीच का भाव था ही नही।[1]

• • •

उस जमाने में हमने विदेशी कपडे के पहाड चिन-चिनकर जला दिये थे और कोई यह नही कहता था कि इससे राष्ट्र की निधि वरवाद हो रही है। श्रीमती नायडू ने अपनी पेरिस की साड़ी जला दी थी और स्व० मोतीलालजी ने भी अपने विलायती कपड़ो मे दियासलाई लगा दी थी। उनके पास तो आलमारी-की-आलमारियां विदेशी कपडे थे। इसके बाद जब वह जेल गये तब उन्होने मेरे पास एक खत भेजा था—आज वह खत मै खोज नही सकता—पर उसमे था कि मै सच्चा जीवन अब ही जी रहा हू, आनद भवन में मेरे पास जो समृद्धि थी उससे मुझे यह सुख नही मिलता था। वहा उन्हे सिगार, शराव, गोश्त कुछ नही मिलता था। पूरा भोजन भी नही मिलता था, फिर भी उसमे उन्हे सुख मालूम हुआ। यह सही है कि उनकी यह चीज हमेशा नही चली।[2]

मेरी हालत विधवा-स्त्री से भी वुरी है। एक विधवा अपने पति की मृत्यु के वाद वफादारी से जीवन विताकर अपने पति के अच्छे कामो का फल पा सकती है। मै कुछ भी नही पा सकता। मोतीलालजी की मृत्यु से मैने जो खोया है, वह मेरा सदा के लिए नुकसान है।[3]

---

[1] हिंदी नवजीवन, २९-१२-३३

[2] प्रार्थना-प्रवचन, २०-६-४७

[3] 'कोई शिकायत नहीं', पृष्ठ ७३

....मोतीलालजी की मृत्यु हरेक देश-भक्त के लिए ईर्ष्या-स्पद होनी चाहिए, क्योकि अपना सबकुछ न्यौछावर करके वह मरे है और अंत समय तक देश का ही ध्यान करते रहे है। इस वीर की मृत्यु से हमारे अंदर भी बलिदान की भावना आनी चाहिए।[1]

: १७ :

वल्लभभाई पटेल

सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ रहना मेरा बड़ा सौभाग्य था। उनकी अनुपम वीरता से मै अच्छी तरह परिचित था, परतु पिछले १६ महीने मे जिस प्रकार रहा, वैसा सौभाग्य मुझे कभी नही मिला था। जिस प्रकार उन्होने मुझे स्नेह से ढक लिया, वह मुझे मेरी मां की याद दिलाता है। मै यह कभी नही जानता था कि उनमे मा के गुण भी है। ··· बारदोली और खेड़ा के किसानों के लिए उनकी चिता मै कभी नही भूल सकता।[2]

... ...

सरदार वल्लभभाई हँसी मे कहा करते थे कि उनके हाथ की रेखाओ मे जेल की रेखा नही है। उन लोगो के लिए जेल है ही नही, जिनके मन मे जेल महल के समान है और जो जेल और महल मे कोई भेद नही समझते। जहा आज सरदार विराजे है, वहां हम सबको जाना है, पर विना योग्यता प्राप्त किये जेल नही मिलती। सरदार वल्लभभाई की अमूल्य सेवाओ के हम पात्र थे या नही, इसे प्रमाणित करने का अवसर अब आ गया है। उन्हे गुजरात से आशा क्यो न हो? उन्होने मजदूरो की सेवा मे कौन कमी रखी है?

---

[1] ७ फरवरी को दिया गया संदेश

[2] 'महादेवभाई की डायरी'

डाकवालो और रेलवे के नौकरो ने उनके पास बैठकर स्वराज्य का पाठ कौन कम पढा है ? अहमदावाद का ऐसा कौन नागरिक है जो नही जानता कि उन्होने अपना सर्वस्व होम कर शहर की सेवा की है ? शहर मे जब भीषण महामारी फैली थी, उन दिनो गरीवो की सेवा का इतजाम करनेवाला कौन था ? वल्लभभाई। अकाल पडने पर अकाल-पीड़ितो की मदद के लिए दौड़ पडनेवाला कौन था ? वल्लभभाई। गुजरात मे ऐतिहासिक बाढ आई, लाखो लोग घरवार-विहीन बन गये, खेतो की फसल वह गई। उस समय सारे गुजरात का संकट टालने के लिए सैकडो स्वयसेवको को तैयार करनेवाला, लोगो के लिए एक करोड रुपये सरकार के खजाने से निकलवानेवाला कौन था ? वल्लभभाई ही। और वह भी वल्लभभाई ही थे, जिन्हे वारदोली की जीत के लिए ऋणी जनता ने सरदार कहकर पुकारा और जो सपूर्ण स्वराज्य की आखिरी लडाई के लिए जनता को तैयार कर रहे थे। वल्लभभाई तो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए जेल पहुच गये। अव हमें क्या करना चाहिए ? इस सवाल का एक जवाव तो साफ ही है। हम हिम्मत न हारे, उलटे हममे से हरएक दुगुनी दृढता और दुगुनी हिम्मत के साथ सविनय-भग के लिए तैयार हो जाय और जेल की, या मौत मिले तो मौत की, राह पकड ले। सरदार के जाने के वाद अव रहनुमा कौन होगा ? इस तरह का नामर्दी से भरा हुआ सवाल कोई अपने मन मे न उठने दे। जिसे सविनय-भग करना है, उसके पास आज वहुतेरे साधन पडे हुए है और सरकार नये-नये साधन पैदा कर रही है। जैसे हमारे लिए यह जीवन-मरण का खेल है, वैसे ही सरकार के लिए भी है। मालूम होता है कि उसकी हस्ती का आधार ही स्वतत्र स्वभाव के मनुष्यो को दवाने पर है, नही तो वह वल्लभभाई के समान शाति, रक्षा के लिए प्रसिद्ध आदमी को क्यो पकडती ?[१]

---

[१] हिंदी नवजीवन, १३-३-३०

सरदार के लिए सब समान है, एक नन्हा बालक भी इसे जानता है। उन्हे तो गरीब-मात्र की सेवा करनी है। फिर भले ही वह भगी हो या ब्राह्मण, गुजराती हो या मद्रासी, राष्ट्र ने उनकी इस विशेषता को पहचाना और पहचानकर राष्ट्रपति बनाया।[1]

... ...

·· सरदार मेरे सगे भाई के समान है, तथापि इतना प्रमाण पत्र देते हुए मुझे जरा भी सकोच नही होता।[2]

... ...

वल्लभभाई अरबी घोड़े की तेजी से दौड रहे है। संस्कृत की किताब हाथ से छूटती ही नही। इसकी मुझे आशा नही थी ! लिफाफो मे तो कोई उनकी बराबरी नही कर सकता। लिफाफे वह नापे बिना बनाते है और अदाज से काटते है, मगर बराबर के निकलते है और फिर भी ऐसा नही लगता कि इसमे बहुत समय लगता है। उनकी व्यवस्था आश्चर्यजनक है। जो कुछ करना हो उसे याद रखने के लिए छोडते ही नही। जैसे आया वैसे ही कर डाला। कातना जब से शुरू किया है, तब से बराबर समय पर कातते है। इस तरह सूत मे और गति मे रोज सुधार होता जा रहा है। हाथ मे लिया हुआ भूल जाने की बात तो शायद ही होती है। और जहा इतनी व्यवस्था हो, वहां बावली तो हो ही कैसे ?[3]

... .

कई मुसलमान दोस्तो ने शिकायत की थी कि सरदार का रुख मुसलमानो के खिलाफ है। मैंने कुछ दु ख से उनकी बात सुनी, मगर कोई सफाई पेश न की। उपवास शुरू होने के बाद मैंने अपने ऊपर जो रोक-थाम लगाई हुई थी वह चली गई। इसलिए मैंने टीकाकारों को कहा कि सरदार को मुझसे और पडित नेहरू से

---

[1] हिंदी नवजीवन, १४-५-२१

[2] 'विजयी बारदोली'

[3] महादेवभाई की डायरी, २८-८-३२

अलग करके और मुझे और पडित नेहरू को खामख्वाह आसमान पर चढाकर वे गलती करते है।

इससे उनको फायदा नही पहुच सकता। सरदार के बात करने के ढग मे एक तरह का अक्खडपन है, जिससे कभी-कभी लोगो का दिल दुख जाता है, अगरचे सरदार का इरादा किसीको दु खी बनाने का नही होता। उनका दिल बहुत बडा है। उसमे सबके लिए जगह है। सो मैने जो कहा, उसका मतलब यह था कि अपने जीवन भर के वफादार साथी को एक बेजा इलजाम से बरी कर दू। मुझे यह भी डर था कि सुननेवाले कही यह न समझ बैठे कि मै सरदार को अपना 'जी हुजूर' मानता हू। सरदार को प्रेम से मेरा 'जी हुजूर' कहा जाता था। इसलिए मैने सरदार की तारीफ करते समय कह दिया कि वह इतने शक्तिशाली और मन के मजबूत है कि वह किसीके 'जी हुजूर' हो ही नही सकते। जब वह मेरे 'जी हुजूर' कहलाते थे तब वह ऐसा कहने देते थे, क्योकि जो कुछ मैं कहता था वह अपने-आप उनके गले उतर जाता था। वे अपने क्षेत्र मे बहुत बडे थे। अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी मे उन्होने शासन चलाने मे बहुत काबलियत बताई थी। मगर वह इतने नम्र थे कि उन्होने अपनी राजनैतिक तालीम मेरे नीचे शुरू की। उन्होने उसका कारण मुझे बताया था कि जब मै हिंदुस्तान मे आया था उन दिनो जिस तरह का राज-काज हिंदुस्तान मे चलता था, उसमे हिस्सा लेने का उन्हे मन नही होता था। मगर अब जब सत्ता उनके गले आ पडी तब उन्होने देखा कि जिस अहिसा को वह आजतक सफलतापूर्वक चला सके अब वह नही चला सकते। मैने कहा है कि मै समझ गया हू कि जिस चीज को मै और मेरे साथी अहिसा कहा करते थे वह सच्ची अहिसा न थी। वह तो नकली चीज थी और उसका नाम है निष्क्रिय प्रतिरोध। हा, किनके हाथो में निष्क्रिय प्रतिरोध किसी काम की चीज है? जरा सोचिये तो सही कि एक कमजोर आदमी जनता का प्रतिनिधि बने तो वह अपने मालिको की हँसी और बेइज्जती ही करवा सकता है। मैं जानता

हू कि सरदार कभी उन्हें सौपी हुई जिम्मेदारी को दगा नही दे सकते। वे उसका पतन बर्दाश्त नही कर सकते।[1]

: १८ :

जमनालाल बजाज

सेठ जमनालाल बजाज को छीनकर काल ने हमारे बीच से एक शक्तिशाली व्यक्ति को छीन लिया है। जब-जब मैने धनवानो के लिए यह लिखा कि वे लोककल्याण की दृष्टि से अपने धन के ट्रस्टी बन जाय तब-तब मेरे सामने सदा ही इस वणिक् शिरोमणि का उदाहरण मुख्य रहा। अगर वह अपनी संपत्ति के आदर्श ट्रस्टी नही बन पाये तो इसमे दोष उनका नही था। मैने जानबूझकर उनको रोका। मै नही चाहता था कि वे उत्साह मे आकर ऐसा कोई काम कर ले, जिसके लिए बाद मे शात मन से सोचने पर उन्हे पछताना पडे। उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। अपने लिए उन्होने जितने भी घर बनाये, वे उनके घर नही रहे, धर्मशाला बन गये। सत्याग्रही के नाते उनका दान सर्वोत्तम रहा। राजनैतिक प्रश्नो की चर्चा मे वह अपनी राय दृढतापूर्वक व्यक्त करते थे। उनके निर्णय पक्के हुआ करते थे। त्याग की दृष्टि से उनका अतिम कार्य सर्वश्रेष्ठ रहा। वह किसी ऐसे रचनात्मक काम में लग जाना चाहते थे, जिसमे वह अपनी पूरी योग्यता के साथ अपने जीवन का शेष भाग तन्मय होकर बिता सके। देश के पशु-धन की रक्षा का काम उन्होने अपने लिए चुना था और गाय को उसका प्रतीक माना था। इस काम मे वह इतनी एकाग्रता और लगन के साथ जुट गये थे कि जिसकी कोई मिसाल नही। उनकी उदारता मे जाति, धर्म या वर्ण की सकुचितता को कोई स्थान न था। वह एक ऐसी साधना मे लगे हुए थे, जो कामकाजी आदमी के

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन, १५-१-४८

लिए विरल है। विचार-सयम उनकी एक बडी साधना थी। वह सदा ही अपनेको तस्कर विचारो से बचाने की कोशिश मे रहते थे। उनके अवसान से वसुधरा का एक रत्न कम हो गया है। उनको खोकर देश ने अपना एक वीर-से-वीर सेवक खोया है। जिस कार्य के लिए उन्होने अपना शेष जीवन समर्पित कर दिया था, उसे अब उनकी विधवा जानकीदेवी ने स्वय करने का निश्चय किया है। उन्होने अपनी समस्त निजी सपत्ति को, जो करीब ढाई लाख के आस-पास है, कृष्णार्पण कर दिया है। ईश्वर उन्हे अपने इस अगीकृत कार्य मे सफल होने की शक्ति दे।[1]

.. ..

मेरे साथ जमनालालजी का सबध करीब-करीब तभी से शुरू हुआ जब से मैने हिदुस्तान के सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश किया। उन्होने मेरे सभी कामो को पूरी तरह अपना लिया था, यहातक कि मुझे कुछ करना ही नही पडता था। ज्योही मै किसी नये काम को शुरू करता वह उसका बोझ खुद उठा लेते थे। इस तरह मुझे निश्चित कर देना मानो उनका जीवन-कार्य ही बन गया था।

११ फरवरी को जब मै जमनालालजी के द्वार पर पहुचा तो उनका देहात हो चुका था। मेरे पास वर्धा से सदेश तो सिर्फ यही आया था कि खून का दौरा कम करने की दवा भेजे। मै दवा भेजकर अपने दिल की तसल्ली कर सकता था। लेकिन उस दिन मैने महसूस किया कि नही, मुझे खुद ही जाना चाहिए। जब वहा पहुचा तो मामला कुछ और ही पाया।

जमनालालजी तो बडभागी थे। उनकी तरह हम भी अपने को बडभागी साबित कर सकते है, बशर्ते कि जो चीज उनके रहते हमे साफ नही दिखाई दी वह उनके बाद हमे साफ दिखाई देने लगे, जो जाग्रति हममे उनके जीवित रहते नही आई वह अब

---

[1] हरिजन सेवक, १५-२-४२

सब मे आ जाय।

उनका सबसे बड़ा काम गोसेवा का था। वैसे तो यह काम पहले भी चलता था, लेकिन धीमी चाल से। इसमे उन्हे संतोष न था। उन्होंने इसे तीव्र गति से चलाना चाहा और इतनी तीव्रता से चलाया कि खुद ही चल बसे।

... ...

खादी के काम मे उनकी दिलचस्पी मुझसे कम न थी। खादी के लिए जितना समय मैंने दिया उतना ही उन्होने भी दिया। उन्होने इस काम के पीछे मुझसे कम बुद्धि खर्च नही की थी। इसलिए कार्यकर्त्ता भी वह ही ढूढ-ढूढकर मेरे पास लाया करते थे। थोडे मे यह कह लीजिय कि अगर मैंने खादी का मत्र दिया तो जमनालालजी ने उसको मूर्त्त रूप दिया। खादी का काम कुछ होने के बाद मै तो जेल मे जा बैठा, मगर वह जानते थे कि मेरे नजदीक खादी ही मे स्वराज्य है। अगर उन्होने तुरत ही उसमे रत होकर उसे सगठित रूप न दिया होता तो मेरी गैरहाजिरी मे सारा काम तीन-तेरह हो जाता।

यही बात ग्रामोद्योग की थी। उन्होने इसके लिए मगनवाड़ी दी ही थी, साथ ही उसके सामने की कुछ जमीन भी वह मगनवाडी के लिए खरीदने का सकल्प कर चुके थे। अब चि० कमलनयन[1] ने वह जमीन भी मगनवाडी को दे दी है। ग्रामोद्योग का काम इतना व्यापक है कि इसमे अटूट रुपया खर्च किया जा सकता है।...

... ...

एक बात और जमनालालजी कई बार कहा करते थे कि लोग और सब जगह तो खादी पहनकर चले जाते है, लेकिन बैंक मे नही जाते। अगर बैंक मे वह अपनी मारवाड़ी पगड़ी पहनकर न जायं तो उनके खयाल मे इसमे उनकी प्रतिष्ठा की हानि होती है। मगर खुद जमनालालजी ने कभी इसकी कोई चर्चा नही की।

---

[1] जमनालालजी के ज्येष्ठ पुत्र

फिर उसका नतीजा कुछ भी क्यो न हुआ हो। अत मैं यह चाहता हू कि हममे इतनी स्वतत्रता और इतना आत्म-गौरव पैदा हो जाना चाहिए कि हम अपनी खादी की पोशाक में हर जगह बिना झिझक के जा सके।

अबतक इस देश की आजादी को खोने मे व्यापारी-समाज की खास जिम्मेदारी रही है। जमनालालजी को यह चीज बराबर खटका करती थी।

जमनालालजी के दूसरे काम आखो के सामने ही है। महिला-आश्रम को ही लीजिये। यह उनकी अपनी एक विशेष कृति है। उन्हीकी कल्पना के अनुसार यह अबतक काम करता रहा है। जमनालालजी के सामने सवाल यह था कि जो लोग देश के काम मे जुटकर भिखारी बन जाते है, उनके बाल-बच्चो की शिक्षा का क्या प्रबध हो? उन्होने कहा कि कम-से-कम उनकी लडकियो को सरकारी मदरसो के मुकाबले मे अच्छी ही तालीम मिल सकेगी। बस, इसी खयाल से महिला-आश्रम की स्थापना हुई। आज इस आश्रम के लिए एक त्यागी और सुशिक्षित महिला की आवश्यकता है। आप इस आवश्यकता की पूर्ति मे सहायक हो सकते है। बुनियादी तालीम और हरिजन-सेवक-सघ के काम का भी यही हाल है। आप इनमे शरीक हो सकते है। हिंदू-मुस्लिम-एकता के लिए उनके दिल मे खास लगन थी। उनके अदर साप्र-दायिक द्वेष की बू तक न थी। आप उनके जीवन से इस गुण को ग्रहण कर सकते है। . .

जमनालालजी का स्मृति-स्तभ खडा करके हम उनकी याद को चिरस्थायी नही बना सकते। स्तभ पर खुदे हुए शिला-लेख को तो लोग पढकर थोडे ही समय मे भूल जायगे, परतु जिस आदमी ने दुनिया के लिए इतना कुछ किया है उसके काम को चिर-स्थायी रखने का संकल्प कोई कर ले तो वह उनका सच्चा स्मारक हो रहेगा। किंतु इसके लिए मै जबरदस्ती नही करना चाहता। जिसे जो कुछ भी करना हो आत्मोन्नति के लिए करे। अगर

दिखावे के लिए कुछ भी होगा तो उससे मुझे और जमनालालजी की आत्मा को उल्टा कष्ट ही होगा ।[1]

... ...

जमनालाल का शरीर मर गया, पर असल जमनालाल तो जिदा ही है और आगे के लिए उसे जिदा रखना हमारा काम है ।[2]

: १९ :

सुभाषचंद्र बोस

नेताजी के जीवन से जो सबसे बड़ी शिक्षा ली जा सकती है वह है उनकी अपने अनुयायियो मे ऐक्यभावना की प्रेरणाविधि, जिससे कि वे सब साप्रदायिक तथा प्रातीय बंधनो से मुक्त रह सके और एक समान उद्देश्य के लिए अपना रक्त बहा सके । उनकी अनुपम सफलता उन्हे निस्सदेह इतिहास के पन्नो मे अमर रखेगी ।

नेताजी के प्रत्येक अनुगामी ने, जो भारत लौटने पर मुझसे मिले, निर्विवाद रूप से यह कहा कि नेताजी का प्रभाव उनपर जादू-सा हुआ करता था और वे उनके अधीन एकमात्र भारत की आजादी प्राप्त करने के उद्देश्य से काम करते थे । उनके दिलो मे सांप्रदायिक और प्रातीय या और कोई भी भेदभाव कभी भी अंकुरित नही हुआ था ।

नेताजी एक महान् गुणवान पुरुष थे । वह व्युत्पन्नमति और प्रतिभा-सपन्न थे । उन्होने आई०सी०एस० की परीक्षा उत्तीर्ण की; किंतु नौकरी नही की । भारत लौटने पर वह देशबधुदास से प्रभावित हुए और कलकत्ता कारपोरेशन के मुख्य एक्जीक्यूटिव आफिसर नियुक्त हुए । बाद मे वह राष्ट्रीय महासभा के भी दो बार राष्ट्रपति बने, परतु उनकी उल्लेखनीय सफलताओ मे, भारत

---

[1] सेवाग्राम, २८-२-४२

[2] जमनालालजी, पृष्ठ १०

से बाहर के, उस समय के कार्य है, जब वह देश से भागे और काबुल, इटली, जर्मनी और अन्य देशो से होकर अत मे जापान पहुचे। विदेशी चाहे कुछ भी कहे, पर मै विश्वास के साथ यह अवश्य कहूगा कि आज भारत मे एक भी ऐसा आदमी नही है जो उनके इस प्रकार भागने को अपराध मानता है। 'समरथ को नही दोष गुसाईं'—सत तुलसीदास के इस कथन के अनुसार नेताजी पर भागने का दोष नही लगाया जा सकता। जब सर्वप्रथम उन्होने सेना तैयार की तो उसकी तुच्छ सख्या की उन्होने कोई चिता नही की। उनका निश्चय था कि सख्या चाहे कितनी ही कम क्यो न हो, पर भारत को आजाद कराने के लिए उन्हे सामर्थ्य भर यत्न करना ही चाहिए।

नेताजी का सबसे महान् और स्थिर रहनेवाला कार्य था सब प्रकार के जातीय और वर्ग-भेद का उन्मूलन। वह केवल बंगाली ही नही थे। उन्होने अपने आपको कभी सवर्ण हिंदू नही समझा। वह आमूलचूल भारतीय थे। इससे अधिक क्या कि उन्होने अपने अनुगामियो मे भी यही आग प्रज्वलित की, जिससे प्रेरित होकर वे उनकी उपस्थिति मे सभी भेदभाव भूल गये थे और एक-सूत्र होकर काम करते थे।[1]

.. ..

एक बात और। वह यह कि जो आजाद हिंद फौज सुभाष-बाबू ने बनाई थी और उसके लिए हम सब सुभाषबाबू की होशियारी, बहादुरी की तारीफ करते है और तारीफ करने की बात है, क्योकि जब वह हिंदुस्तान से बाहर था तब उसने सोचा कि चलो, थोडा फौजी काम भी कर लू। वह कोई लडवैया तो था नही। एक मामूली हिंदुस्तानी था। जैसे दूसरे वकील, बैरिस्टर रहते है वैसे सुभाषबाबू भी थे। फौज की कोई तालीम तो पाई नही थी। हा, सिविल सर्विस मे जैसा आमतौर पर होता है, थोडी घुडसवारी

---

[1] 'नेताजी, हिज लाइफ एण्ड वर्क'

सीख ली होगी। लेकिन पीछे उन्होने फौजी-शास्त्र थोड़ा पढ़ लिया होगा। इस प्रकार उनके मातहत जो सेना बनी थी, मै सुनता हूं कि उसके दो बड़े अफसर, जिनसे मै जेल मे तथा उसके बाहर भी मिला था, काश्मीर पर हमला करनेवालों से मिले हुए हैं। यह मुझको बहुत चुभता है। ये सुभापबाबू के मातहत खास काम करनेवाले थे और हमेशा उनके साथ रहा करते थे। सुभाषबाबू लश्कर से कोई बात छिपाकर रख तो सकते नही थे, क्योकि उन्हे उनके मारफत काम लेना पड़ता था। वे आज लुटेरो के सरदार होकर आते है तो मुझको चुभता है। अगर उनको अखबार मिलते है या जो मै कहता हू उसको वे सुन ले तो मै अपनी यह नाकिस आवाज उनको पहुचाता हू कि आप इसमे क्यो पड़ते है और सुभाष-बाबू के नाम को क्यो डुबाते है ? आप ऐसा क्यो करते है कि हिंदू का पक्ष ले या मुसलमान का पक्ष ले ? आपको तो जाति-भेद करना नही चाहिए। सुभाषबाबू तो ऐसे थे नही। उनके साथ हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई, हरिजन आदि सब रहते थे। वहा न हरिजन का भेद था, न इतरजन का। वहा तो हिंदु-स्तानियो मे जात-पात का कोई भेदभाव था ही नही। यो तो सब अपने धर्म पर कायम थे, कोई धर्म तो छोड बैठे थे नही। लेकिन सुभाषबाबू ने कब्जा कर लिया था, उनके चित्त का हरण कर लिया था, शरीर का हरण नही किया था। ऐसा तो चलता नही था कि अगर आजाद हिंद फौज मे शामिल नही होता है तो काटो। लोगो को इस तरह काटकर वह हिंदुस्तान को रिहाई दिलाने वाले नही थे। इस तरह से बड़े हुए और बडप्पन पाया। तब आप इतने छोटे क्यो बनते है और इस छोटे काम मे क्यो पड़ते है ? अगर कुछ करना ही है तो सारे हिंदुस्तान के लिए करो। वहा जो मुसलमान है, अफरीदी है, उनको कहे कि यह जाहिलपन क्यों करना ? लोगो को लूटना और देहातो को जलाना क्या ? चलो, महाराजा से मिले, शेख अब्दुल्ला से मिले, उनको चिट्ठी लिखें कि हम आपसे मिलना चाहते है, हम यहां कोई लूट करने

तो आये नही हैं। आप इस्लाम को दबाते हैं, इसलिए आपको बताने आये है। यह तो मै समझ सकता हूं। तब तो आप सुभाषबाबू का नाम उज्ज्वल करेगे और उन अफरीदी लोगो के सच्चे शिक्षक बनेगे। अफरीदी लोग कैसे रहते हैं, उनमे भी लुटेरे है या नही है, यह मै नही जानता हू। लेकिन मेरी निगाह मे वे भी इन्सान है। उनके दिल मे भी वही ईश्वर या खुदा है, इसलिए वे सब मेरे भाई है। अगर मैं उनमे रहू तो उनसे कहूगा कि लूट क्या करना, एक-दूसरे पर गुस्सा क्या करना! मै यह तो कहता नही कि तुम्हारे पास जो बदूके या तलवारे है, उन्हे छोड़ दो। उनको रखो; लेकिन जो दूसरे लोग डरे हुए है, मुफलिस है, औरते है, बच्चे है, उनको बचाने के लिए। उसमे क्या है, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान। तो मै कहूगा कि ये जो दो अफसर है, जिनका नाम मैने सुन लिया है, वे सुभाषबाबू का नाम याद करे। वे तो मर गये, लेकिन उनका नाम नही मरा, काम तो नही मरा।[१]

... .

आज सुभाषबाबू की जन्म-तिथि है। मैने कह दिया है कि मै तो किसीकी जन्म-तिथि या मृत्यु-तिथि याद नही रखता। वह आदत मेरी नही है। सुभाषबाबू की तिथि की मुझे याद दिलाई गई। उससे मै राजी हुआ। उसका भी एक खास कारण है। वह हिंसा के पुजारी थे। मै अहिंसा का पुजारी हूं। पर इसमे क्या? मेरे पास गुण की ही कीमत है। तुलसीदासजी ने कहा है न,

"जड-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार॥"

हंस जैसे पानी को छोड़कर दूध ले लेता है, वैसे ही हमे भी करना चाहिए। मनुष्य-मात्र मे गुण और दोष दोनो भरे पडे है। हमे गुणो को ग्रहण करना चाहिए। दोषो को भूल जाना चाहिए। सुभाषबाबू बडे देश-प्रेमी थे। उन्होने देश के लिए अपनी जान

---

[१] प्रार्थना-प्रवचन, २-११-४७

की बाजी लगा दी थी और वह करके भी बता दिया। वह सेनापति बने। उनकी फौज मे हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिख सब थे। सब बगाली ही थे, ऐसा भी नही था। उनमे न प्रातीयता थी, न रग-भेद, न जाति-भेद। वह सेनापति थे, इसलिए उन्हे ज्यादा सहूलियत लेनी या देनी चाहिए, ऐसा भी नही था।[1]

: २० :

मदनमोहन मालवीय

जब से १९१५ मे हिंदुस्तान आया तब से मेरा मालवीयजी के साथ बहुत समागम है और मै उन्हे अच्छी तरह जानता हू। मेरा उनके साथ गहरा परिचय रहता है। उन्हे मै हिंदू-ससार के श्रेष्ठ व्यक्तियो मे मानता हूं। कट्टर और पुराने खयालात के होते हुए भी बड़े उदार विचार रखते है। उनका किसीसे ईर्ष्या रखना असंभव है। उनकी उदारता ऐसी है कि उसमे उनके दुश्मनो के लिए भी जगह है। कभी उन्हें शासन की चाह न रही और जो शासन आज उनके पास है वह उनकी मातृभूमि की आज तक की लबी और अखड सेवा का फल है। ऐसी सेवा का दावा हममे से बहुत कम लोग कर सकते है। उनकी और मेरी विशेषता अलग-अलग है, लेकिन हम दोनो एक दूसरे को सगे भाई-सा प्यार करते है। मेरे और उनके बीच कभी जरा भी बिगाड नही हुआ। हमारे रास्ते जुदे-जुदे है। इसलिए हमारे बीच स्पर्धा और डाह का सवाल पैदा ही नही हो सकता।[2]

... ...

· · आशावाद और भोलेपन मे मै भेद करता हूं। पडितजी

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन २३-१-४८,

[2] हिंदी नवजीवन १-६-२४,

मे दोनो है। दृष्टिमर्यादा पर निराशा के चिन्ह होते हुए भी और जानते हुए भी जो आशा रखता है वह आशावादी है। यह गुण पडितजी मे काफी मात्रा मे है। आशा की बाते कोई कह दे और उसपर विश्वास लाना वह भोलापन है। यह भी पडितजी मे है। उसे मैं त्याज्य समझता हू। पडितजी महान व्यक्ति है, इसलिए उनको ऐसे भोलेपन से हानि नही हुई है। हमे ऐसे भोलेपन का अनुकरण कभी नही करना चाहिए। आशावाद अतर्नाद पर निर्भर है, भोलापन बाह्य बातो पर।[1]

.. .. ..

देश के सार्वजनिक जीवन को उनकी बहुत बडी देन है। उनका सबसे बडा कार्य हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस है। इस विद्यालय के प्रेम से हमे हार्दिक प्रेम है। महामना मालवीयजी ने उसके लिए जब कभी मेरी सेवाए चाही है, मैने दी है।

मालवीयजी महाराज के साथ मेरा कितना गाढ सबध है। अगर उनका कोई काम मुझसे हो सकता है तो मुझे उसका अभिमान रहता है और अगर मै उसे कर सकू तो अपनेको कृतार्थ समझता हू। यहा आना मेरे लिए तो एक तीर्थ मे आने के समान है।

यह विश्वविद्यालय मालवीयजी महाराज का सबसे बडा और प्राण-प्रिय कार्य है। उन्होने हिंदुस्तान की बहुत-बहुत सेवाए की है, इससे आज कोई इकार नही कर सकता। लेकिन मेरा अपना खयाल यह है कि उनके महान् कार्यो मे इस कार्य का महत्व सबसे ज्यादा रहेगा। २५ साल पहले, जब इस विश्वविद्यालय की नीव डाली गई थी, तब भी मालवीयजी महाराज के आग्रह और खिचाव से मै यहा आ पहुचा था। उस समय तो मै यह सोच भी न सकता था कि जहा बडे-बडे राजा-महाराजा और खुद वाइसराय आनेवाले है, वहा मुझ-जैसे फकीर की क्या जरूरत हो सकती है। तब तो मै 'महात्मा' भी नही बना था।

---

[1] महादेवभाई की डायरी, २७-५-३२

उस समय भी मालवीयजी महाराज की कृपा-दृष्टि मुझपर थी। कही भी कोई सेवक हो, वह उसे ढूढ निकालते है और किसी-न-किसी तरह अपने पास खीच ही लाते है। यह उनका सदा का धधा है।

लोग मालवीयजी महाराज की बडी प्रशसा करते ह। वह सब तरह उसके लायक है। मै जानता हू कि हिंदू विश्वविद्यालय का कितना बडा विस्तार है। ससार मे मालवीय-जी से वढकर कोई भिक्षुक नही। जो काम उनके सामने आ जाता है, उसके लिए—अपने लिए नही—उनकी भिक्षा की झोली का मुह हमेगा खुला रहता है। वह हमेशा मागा ही करते है, और परमात्मा की भी उनपर बडी दया है कि जहा जाते है, उन्हे पैसे मिल ही जाते है, तिसपर भी उनकी भूख कभी नही बुझती। उनका भिक्षापात्र सदा खाली रहता है। उन्होने विश्वविद्यालय के लिए एक करोड इकट्ठा करने की प्रतिज्ञा की थी। एक करोड की जगह डेढ करोड दस लाख रुपया इकट्ठा हो गया, मगर उनका पेट नही भरा। अभी-अभी उन्होने मुझसे कान मे कहा है कि आज के हमारे सभापति महाराज साहब दरभगा ने उनको एक खासी वडी रकम दान मे और दी है।

मै जानता हू कि मालवीयजी महाराज स्वय किस तरह रहते है। यह मेरा सौभाग्य है कि उनके जीवन का कोई पहलू मुझसे छिपा नही। उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी पवित्रता और उनके प्रेम से मै भली-भाति परिचित हू। उनके इन गुणो मे से आप जितना कुछ ले सके, जरूर ले। विद्यार्थियो के लिए तो उनके जीवन की वहुतेरी वाते सीखने लायक है। मगर मुझे डर है कि उन्होने, जितना सीखना चाहिए, सीखा नही है। यह आपका और हमारा दुर्भाग्य है। इसमे उनका कोई कसूर नही। धूप मे रहकर भी कोई सूरज का तेज न पा सके तो उसमे सूरज वेचारे का क्या दोप ? वह तो अपनी तरफ से सवको गर्मी पहुचाता रहता है पर अगर कोई उसे लेना ही न चाहे और ठड मे रहकर

ठिठुरता फिरे तो सूरज भी उसके लिए क्या करे ? मालवीयजी महाराज के इतने निकट रहकर भी अगर आप उनके जीवन से सादगी, त्याग, देशभक्ति, उदारता और विश्वव्यापी प्रेम आदि सद्गुणो का अपने जीवन मे अनुकरण न कर सके तो कहिये, आप से बढकर अभागा और कौन होगा ?[१]

... ..

अग्रेजी मे एक कहावत है—'राजा गया, राजा हमेशा जियो !' ठीक यही भारत-भूपण मालवीयजी महाराज के लिए कहा जा सकता है—"मालवीयजी गये, मालवीयजी अमर हो !" मालवीयजी हिदुस्तान के लिए पैदा हुए और हिदुस्तान के लिए किये गये अपने कामो मे जीते है। उनके काम बहुत है। बहुत बडे है। उनमे सबसे बडा हिदू-विश्वविद्यालय है । गलती से उसे हम बनारस हिदू युनिवर्सिटी के नाम से पहचानते है। उस नाम के लिए दोप मालवीयजी महाराज का नही, उनके पैरोकारो का रहा है। मालवीयजी महाराज दासानुदास थे। दास लोग जैसा करते थे, वैसा वह करने देते थे। मुझे पता है कि यह अनुकूलता उनके स्वभाव मे भरी थी, यहातक कि वाज दफा वह दोप का रूप लेलेती थी, लेकिन 'समरथ को नहि दोप गुसाई' वाली बात मालवीयजी महाराज के वारे मे भी कही जा सकती है । उनका प्रिय नाम तो हिदू विश्व-विद्यालय ही था और यह सुधार तो अब भी करने योग्य है। इस विश्वविद्यालय का हरेक पत्थर शुद्ध हिदू-धर्म का प्रतिबिंव होना चाहिए। एक भी मकान पश्चिम के जडवाद की निशानी न हो, वल्कि अध्यात्म की निशानी हो। और जैसे मकान हो, वैसे ही शिक्षक और विद्यार्थी भी हो। आज है ? प्रत्येक विद्यार्थी शुद्ध धर्म की जीवित प्रतिमा है ? नही है तो, क्यो नही है ? इस विश्वविद्यालय की परीक्षा विद्यार्थियो की सख्या से नही, वल्कि उनके हिदू-धर्म की प्रतिमा होने से ही हो सकती है, फिर भले वे थोडे ही क्यो न हो।

[१] हरिजन सेवक, २१-१-४२

मै जानता हूं कि यह काम कठिन है, लेकिन यही इस विद्यालय की जड़ है। अगर यह ऐसा नही है, तो कुछ नही है। इसलिए स्वर्गीय मालवीयजी के पुत्रो का और उनके अनुयायियो का धर्म स्पष्ट है। जगत मे हिंदू-धर्म का क्या स्थान है ? उसमे आज क्या दोष है ? वे कैसे दूर किये जा सकते है ? मालवीयजी महा-राज के भक्तो का कर्त्तव्य है कि वे इन प्रश्नो को हल करे। मालवीय-जी अपनी स्मृति छोड गये है। उसको स्थायी रूप देना, उसका विकास करना, उनका श्रेष्ठ स्मृति-स्तभ होगा।

विश्वविद्यालय के लिए स्व० मालवीयजी ने काफी द्रव्य इकट्ठा किया था, लेकिन बाकी भी काफी रहा है। इस काम मे तो हरेक आदमी हाथ बंटा सकता है।

यह तो हुई उनकी बाह्य प्रवृत्ति। उनका आतरिक जीवन विशुद्ध था। वह दया के भंडार थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान बडा था। भागवत उनकी प्रिय पुस्तक थी। वह सजग कथाकार थे। उनकी स्मरण-शक्ति तेजस्विनी थी। जीवन शुद्ध था, सादा था।

उनकी राजनीति को और दूसरी अनेक प्रवृत्तियो को छोड देता हूं। जिन्होने अपना सारा जीवन सेवा के लिए अर्पित किया था और जो अनेक विभूतिया रखते थे, उनकी प्रवृत्ति की मर्यादा हो नही सकती। मैने तो उनमें से चिरस्थायी चीजे ही देने का सकल्प किया था। जो लोग विश्वविद्यालय को शुद्ध बनाने मे मदद देना चाहते है, वे मालवीयजी महाराज के अतर्जीवन के मनन और अनुसरण करने की कोशिश करे।[1]

: २१ :

श्रीमद् राजचंद्रभाई

... मै जिनके पवित्र सस्मरण लिखना आरभ करता हूं,

[1] हरिजन सेवक, ८-१२-४६

उन स्वर्गीय राजचद्र की आज जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा सवत् १९७९ को उनका जन्म हुआ था।

मेरे जीवन पर श्रीमद्‌राजचद्र भाई का ऐसा स्थायी प्रभाव पडा है कि मै उसका वर्णन नही कर सकता। उनके विषय मे मेरे गहरे विचार है। मै कितने ही वर्षो से भारत मे धार्मिक पुरुषो की शोध मे हू, परतु मैने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत मे अबतक नही देखा, जो श्रीमद् राजचद्रभाई के साथ प्रतिस्पर्धा कर सके। उनमे ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी, ढोग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमे एक ऐसी महान् शक्ति थी, जिसके द्वारा वह प्राप्त हुए प्रसग का पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अग्रेज तत्व-ज्ञानियो की अपेक्षा भी विलक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी है। यूरोप के तत्व-ज्ञानियो मे मै टाल्स्टाय को पहली श्रेणी का और रस्किन को दूसरी श्रेणी का विद्वान् समझता हू, परतु श्रीमद् राजचद्रभाई का अनुभव इन दोनो से भी बढा-चढा था। इन महापुरुषो के जीवन के लेखो को अवकाश के समय पढेगे तो आप पर उनका वहुत अच्छा प्रभाव पडेगा। वह प्राय कहा करते थे कि मै किसी बाडे का नही हू और न किसी बाडे मे रहना ही चाहता हू। यह सब तो उपधर्म —मर्यादित—है और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या हो ही नही सकती। वह अपने जवाहरात के धधे से विरक्त होते कि तुरत पुस्तक हाथ मे लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमे ऐसी शक्ति थी कि वही एक अच्छे प्रतिभाशाली बैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते थे। यह अतिशयोक्ति नही, किंतु मेरे मन पर उनकी छाप है। इनकी विचक्षणता दूसरे पर अपनी छाप लगा देती थी।

जिनका पुण्य-स्मरण करने के लिए हम लोग आये हुए है, उनके हम लोग पुजारी है। मै भी उनका पुजारी हू।

वह दयाधर्म की मूर्ति थे। उन्होने दयाधर्म समझा था और उसे अपने जीवन मे उतारा था। मैने यह वहुत बार कहा और लिखा है कि मैने अपने जीवन मे वहुतो से वहुत-कुछ ग्रहण किया है। पर

सबसे अधिक यदि मैने किसीके जीवन मे से ग्रहण किया हो तो वह कविश्री (श्रीमद्राजचद्र) के जीवन मे से ग्रहण किया है। दया-धर्म भी मैने उन्हीके जीवन मे से सीखा है।

वहुत-से प्रसगो मे तो हमे जड होकर वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। शुद्ध जड और चैतन्य मे भेद नही के बराबर है। सारा जगत जड रूप ही दीख पडता है। आत्मा तो कभी क्वचित् ही प्रकाशित होता है। ऐसा व्यवहार अलौकिक पुरुपो का होता है और यह मैने देखा है कि ऐसा व्यवहार श्रीमद्राजचद्रभाई का था।

वह बहुत बार कहा करते थे कि मेरे शरीर मे चारो ओर से कोई वरछी भोंक दे तो मै उसे सह सकता हू, पर जगत मे जो झूठ, पाखड, अत्याचार चल रहा है, धर्म के नाम से जो अधर्म हो रहा है उसकी बरछी मुझसे सही नही जाती। अत्याचारो से उन्हे अकुलाते मैने वहुत बार देखा है। वह सारे जगत को अपने कुटुव के जैसा समझते थे। अपने भाई या वहन की मौत से जितना दु ख हमे होता है उतना ही दुख उन्हे ससार मे दु ख और मृत्यु देखकर होता था। . . .

राजचद्रभाई का शरीर जो इतनी छोटी उम्र मे छूट गया, इसका कारण भी मुझे यही जान पडता है। यह ठीक है कि उनके शरीर मे दर्द घर किये हुए था, पर जगत के ताप का जो दर्द उन्हे था, वह उनके लिए असह्य था। उनके देह मे केवल शारीरिक दर्द ही होता तो उसे उन्होने अवश्य जीत लिया होता, पर उन्हे तो जान पडा कि ऐसे विपम काल मे आत्म-दर्शन कैसे हो सकता है। यह दया-धर्म की निशानी है।[1]

... .

श्रीमद्राजचद्र को मै 'रायचद्रभाई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मानपूर्वक सबोधन करता था। उनके सस्मरण लिखकर उनका रहस्य मुमुक्षुओ के समक्ष रखना मुझे अच्छा लगता है।

[1] राजचद्र-जयंती, अहमदावाद में सभापति-पद से दिया गया भाषण

मुमुक्षु शब्द का मैने यहा जान-बूझकर प्रयोग किया है। सब प्रकार के पाठको के लिए यह प्रयास नही।

मेरे ऊपर तीन पुरुषो ने गहरी छाप डाली है टाल्स्टाय, रस्किन और रायचद्रभाई। टाल्स्टाय ने अपनी पुस्तको द्वारा और उनके साथ थोडे पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैने 'सर्वोदय' रखा है और रायचद्रभाई ने अपने साथ गाढ परिचय से। जब मुझे हिंदू-धर्म मे शका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने मे मदद करनेवाले रायचद्रभाई थे। सन् १८९३ मे दक्षिण अफ्रीका मे मै क्रिश्चियन सज्जनो के विशेष सपर्क मे आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियो को क्रिश्चियन होने के लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सबध व्यावहारिक कार्य को लेकर ही हुआ था तो भी उन्होने मेरी आत्मा के कल्याण के लिए चिता करना शुरू कर दिया। उस समय मै अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जबतक मै हिंदू-धर्म के रहस्य को पूरी तौर से न जान लू और उससे मेरी आत्मा को सतोष न हो जाय तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी न छोडना चाहिए। इसलिए मैने हिंदू-धर्म और अन्य धर्मो की पुस्तके पढना शुरू कर दी। क्रिश्चियन और मुसल-मानी पुस्तके पढी। विलायत के अग्रेज मित्रो के साथ पत्र-व्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शकाए रखी तथा हिंदुस्तान मे जिन के ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी पत्र-व्यवहार किया। उनमे रायचद्र भाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा संबध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था। इसलिए जो मिल सके उनसे लेने का मैने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शाति मिली। हिंदू-धर्म मे मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा मन को विश्वास हुआ। मेरी इस स्थिति के जवाबदार रायचद्रभाई हुए। इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए, इसका पाठक कुछ अनुमान कर सकते है।

इतना होने पर भी मैने उन्हे धर्मगुरु नही माना। धर्मगुरु की तो मै खोज किया ही करता हू। और अबतक मुझे सबके विषय मे यही जवाब मिला है कि ये नही। ऐसा सपूर्ण गुरु प्राप्त करने के लिए तो अधिकार चाहिए। वह मै कहा से लाऊ ?

... ...

रायचद्रभाई के साथ मेरी भेट जुलाई सन् १८९१ मे उस दिन हुई जब मै विलायत से बबई वापस आया। इन दिनो समुद्र मे तूफान आया करता है, इस कारण जहाज रात को देरी से पहुचा। मै डाक्टर––वैरिस्टर––और अब रगून के प्रख्यात झवेरी प्राणजीवनदास मेहता के घर उतरा था। रायचद्रभाई उनके वडे भाई के जमाई होते थे। डाक्टरसाहव ने ही परिचय कराया। उनके दूसरे वडे भाई झवेरी रेवाशकर जगजीवनदास की पहचान भी उसी दिन हुई। डाक्टरसाहव ने रायचद्रभाई का 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा, "कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापार मे है। आप ज्ञानी और शतावधानी है।" किसीने सूचना की कि मै उन्हे कुछ शब्द सुनाऊ और वे शब्द चाहे किसी भी भाषा के हो, जिस क्रम से मै वोलूगा उसी क्रम से वे दुहरा जावेगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मै तो उस समय विलायत से लौटा था। मुझे भाषा-ज्ञान का भी अभिमान था। मुझे विलायत की हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनो विलायत से आया मानो आकाश से उतरा। मैने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया। और अलग-अलग भाषाओ के शब्द पहले तो मैने लिख लिये, क्योकि मुझे वह क्रम कहा याद रहनेवाला था और वाद मे उन शब्दो को मै वाच गया। उसी क्रम से रायचद्रभाई ने धीरे-से एक के वाद एक सव शब्द कह सुनाये। मै सतुष्ट हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण-शक्ति के विषय मे मेरा उच्च विचार हुआ। विलायत की हवा कम पडने के लिए कहा जा सकता है कि यह सुंदर अनुभव हुआ।

कवि को अग्रेजी का ज्ञान विल्कुल न था। उस समय उनकी उमर पच्चीस से अधिक न थी। गुजराती पाठशाला मे भी उन्होंने

थोडा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आस-पास से इतना उनका मान! इससे मै मोहित हुआ। स्मरण-शक्ति पाठशाला मे नही बिकती और ज्ञान भी पाठशाला के बाहर, यदि इच्छा हो—जिज्ञासा हो—तो मिलता तथा मान पाने के लिए विलायत अथवा कही भी नही जाना पडता, परतु गुण को मान चाहिए तो मिलता है—यह पदार्थ पाठ मुझे बबई उतरते ही मिला।

कवि के साथ यह परिचय बहुत आगे बढा। स्मरण-शक्ति बहुत लोगो की तीव्र होती है, इसमे आश्चर्य की कुछ बात नही। शास्त्र-ज्ञान भी बहुतो मे पाया जाता है, परतु यदि वे लोग सस्कारी न हो तो उनके पास फूटी कौडी भी नही मिलती। जहा सस्कार अच्छे होते है वही स्मरण-शक्ति और शास्त्र-ज्ञान सबध शोभित होता है और जगत को शोभित करता है। कवि सस्कारी ज्ञानी थे।

अपूर्व अवसर एवो क्या रे आवशे,
क्या रे थईशु बाह्यातर निर्ग्रंथ जो।
सर्व सबधनु बधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशु कव महत्पूरुषने पथ जो॥
सर्व भाव थी ओदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देश ते संयमहेतु होय जो॥
अन्य कारणे अन्य कशु कल्पे नहि,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो. ॥अपूर्व॥

रायचद्रभाई की १८ वर्ष की उमर के निकले हुए अपूर्व उद्गारो की ये पहली दो कडिया है।

जो वैराग्य इन कडियो मे छलक रहा है, वह मैने उनके दो वर्ष के गाढ परिचय से प्रत्येक क्षण मे देखा है। उनके लेखो की एक असाधारणता यह है कि उन्होने स्वय जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमे कही भी कृत्रिमता नही। दूसरे के ऊपर छाप

डालने के लिए उन्होने एक लाइन भी लिखी हो, यह मैने नही देखा। उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्म-पुस्तक और एक कोरी कापी पडी ही रहती थी। इस कापी मे वह अपने मन मे जो विचार आते उन्हे लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्य मे और कभी पद्य मे होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होना चाहिए।

खाते, बैठते, सोते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमे वैराग्य तो होता ही था। किसी समय उन्हे इस जगत् के किसी भी वैभव पर मोह हुआ हो, यह मैने नही देखा।

उनका रहन-सहन मै आदरपूर्वक परतु सूक्ष्मता से देखता था। भोजन मे जो मिले वह उसीसे सतुष्ट रहते थे। उनकी पोशाक सादी थी। कुर्त्ता, अगरखा, खेस, सिल्क का दुपट्टा और धोती, यही उनकी पोशाक थी तथा ये भी कुछ-बहुत साफ या इस्तरी किये हुए रहते हो, यह मुझे याद नही। जमीन पर बैठना और कुरसी पर बैठना, उन्हे दोनो ही समान थे। सामान्य रीति से दुकान मे वह गद्दी पर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वह अपने विचार मे मग्न है। आखों मे उनके चमत्कार था। वह अत्यत तेजस्वी थे। विह्वलता जरा भी न थी। आखों मे एकाग्रता चित्रित थी। चेहरा गोलाकार, होठ पतले, नाक न नोकदार न चपटी, शरीर दुर्बल, कद मध्यम, वर्ण श्याम और देखने मे वे शातिमूर्ति थे। उनके कठ मे इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हे सुननेवाले थकते न थे। उनका चेहरा हंसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अतरानद की छाया थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हे अपने विचार प्रकट करते समय कभी कोई शब्द ढूढना पडा हो, यह मुझे याद नही। पत्र लिखने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैने उन्हे देखा होगा। फिर भी पढनेवाले को यह न मालूम होता था कि कही विचार अपूर्ण है अथवा वाक्य-रचना त्रुटि-पूर्ण है, अथवा शब्दो के चुनाव मे कमी है।

यह वर्णन सयमी के विषय मे सभव है। बाह्याडबर से मनुष्य वीतरागी नही हो सकता। वीतरागता आत्मा की प्रसादी है। यह अनेक जन्मो के प्रयत्नो से मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागो को निकालने का प्रयत्न करनेवाला जानता है कि राग-रहित होना कितना कठिन है। यह राग-रहित दशा कवि की स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पडी थी।

मोक्ष की प्रथम सीढी वीतरागता है। जबतक जगत की एक भी वस्तु मे मन रमा है तबतक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लग सकती है, अथवा अच्छी लगती भी हो तो केवल कानो को ही, ठीक वैसे ही जैसे कि हमे अर्थ के समझे बिना किसी सगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्णप्रिय क्रीडा मे से मोक्ष का अनुसरण करनेवाले आचरण के आने मे बहुत समय बीत जाता है। आतर वैराग्य के बिना मोक्ष की लगन नही होती। ऐसे वैराग्य की लगन कवि मे थी।

. . .

वणिक तेहनु नाम जेह जूठू नव बोले,
वणिक तेहनुं नाम, तोल ओछु नव तोले,
वणिक तेहनु नाम बापे बोल्युं तेपाले,
वणिक तेहनु नाम व्याजसहित धन वाले,
विवेक तोल ए वणिकनुं सुलतान तोल ए शाव छे,
वेपार चूके जो वाणीओ दु ख दावानल थाय छे।

—सामल भट्ट

सामान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनो अलग-अलग विरोधी वस्तुए है। व्यापार मे धर्म को घुसेडना पागलपन है। ऐसा करने से दोनो बिगड जाते है। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्य मे केवल निराशा ही लिखी है, क्योकि ऐसी एक भी वस्तु नही, ऐसा एक भी व्यवहार नही जिससे हम धर्म को अलग रख सकें।

धार्मिक मनुष्य का धर्म उसके प्रत्येक कार्य मे झलकना ही

चाहिए, यह रायचंद्रभाई ने अपने जीवन मे बताया था। धर्म कुछ एकादशी के दिन ही, पर्यूषण मे ही, ईद के दिन ही, या रविवार के दिन ही पालना चाहिए, अथवा उसका पालन मदिरो मे, देरासरो मे और मस्जिदो मे ही होता है और दूकान या दरबार मे नही होता, ऐसा कोई नियम नही। इतना ही नही, परतु यह कहना धर्म को न समझने के बराबर है, यह रायचद्रभाई कहते, मानते और अपने आचार मे बताते थे।

उनका व्यापार हीरे-जवाहरात का था। वह श्री रेवाशंकर जगजीवन झवेरी के साझी थे। साथ मे वे कपड़े की दूकान भी चलाते थे। अपने व्यवहार मे सपूर्ण प्रकार से वह प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मै कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। चालाकी सरीखी कोई वस्तु उनमे नही देखता था। दूसरे की चालाकी वह तुरत ताड़ जाते थे। वह उन्हे असह्य मालूम होती थी। ऐसे समय उनकी भृकुटि भी चढ़ जाती और आखो मे लाली आ जाती, यह मै देखता था।

धर्म-कुशल लोग व्यवहारकुशल नही होते, इस वहम को रायचंदभाई ने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापार मे वह पूरी सावधानी और होशियारी बताते थे। हीरे-जवाहरात की परीक्षा वह बहुत बारीकी से कर सकते थे। यद्यपि अग्रेजी का ज्ञान उन्हे न था, फिर भी पेरिस वगैरह के अपने आढतियों की चिट्ठियो और तारो के मर्म को वह फौरन समझ जाते थे और उनकी कला समझने मे उन्हे देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होने पर भी वह व्यापार की उद्विग्नता अथवा चिता न रखते थे। दुकान मे बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता तो उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमे वह अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी। मेरे जैसे जिज्ञासु तो उनके पास रोज आते ही रहते थे और

उनके साथ धर्म-चर्चा करने मे हिचकते न थे। 'व्यापार के समय मे व्यापार और धर्म के समय मे धर्म' अर्थात् एक समय मे एक ही काम होना चाहिए, इस सामान्य लोगो के सुदर नियम का कवि पालन न करते थे। वह शतावधानी होकर इसका पालन न करे तो यह हो सकता है, परतु यदि और लोग उसका उल्लघन करने भी लगे तो जैसे दो घोडो पर सवारी करनेवाला गिरता है, वैसे ही वे अवश्य गिरते। सपूर्ण धार्मिक और वीतरागी पुरुष भी जिस क्रिया को जिस समय करता हो, उसमे ही लीन हो जाय, यह योग्य है। इतना ही नही, बल्कि उसे यही शोभा देता है। यह उसके योग की निशानी है। इसमे धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरह की जो कोई अन्य क्रिया करना हो तो उसमे भी पूर्ण एकाग्रता होनी ही चाहिए। अतरग मे आत्मचितन तो मुमुक्षु मे उसके श्वास की तरह सतत चलना ही चाहिए। उससे वह एक क्षण भी वचित नही रहता। परतु इस तरह आत्मचितन करते हुए भी जो कुछ वह वाह्य कार्य करता हो वह उसमे ही तन्मय रहता है।

मै यह नही कहना चाहता कि कवि ऐसा न करते थे। ऊपर मै कह चुका हू कि अपने व्यापार मे वह पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होने पर भी मेरे ऊपर ऐसी छाप जरूर पडी है कि कवि ने अपने शरीर से आवश्यकता से अधिक काम लिया है। यह योग की अपूर्णता तो नही हो सकती है यद्यपि कर्तव्य करते हुए शरीर तक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परतु शक्ति से अधिक बोझ उठा कर उसे कर्तव्य समझना यह राग है। ऐसा अत्यत सूक्ष्म राग कवि मे था, यह मुझे अनुभव हुआ है।

वहुत वार परमार्थ दृष्टि से मनुष्य शक्ति से अधिक काम लेता है और वाद मे उसे पूरा करने मे उसे कष्ट सहना पडता है। इसे हम गुण समझते है और इसकी प्रशसा करते है। परतु परमार्थ अर्थात् धर्म-दृष्टि से देखने से इस तरह किये हुए काम मे सूक्ष्म मूर्छा का होना वहुत सभव है।

यदि हम इस जगत् मे केवल निमित्तमात्र ही है, यदि यह

शरीर हमें भाडे मिला है, और उस मार्ग से हमे तुरंत मोक्ष साधन करना चाहिए, यही परम कर्तव्य है, तो इस मार्ग मे जो विघ्न आते हो उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। यही पारमार्थिक दृष्टि है, दूसरी नही।

जो दलीले मैंने ऊपर दी है, उन्हे ही किसी दूसरे प्रकार से रायचदभाई अपनी चमत्कारिक भाषा मे मुझे सुना गये थे। ऐसा होने पर भी उन्होने ऐसी-वैसी उपाधियां उठाई कि जिसके फल-स्वरूप उन्हे सख्त बीमारी भोगनी पड़ी।

रायचंदभाई को परोपकार के कारण मोह ने क्षण भर के लिए घेर लिया था, यदि मेरी यह मान्यता ठीक हो तो 'प्रकृति यांति भूतानि निग्रहः कि करिष्यति' यह श्लोकार्थ यहां ठीक बैठता है और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक बर्ताव करने के लिए उपर्युक्त कृष्ण-वचन का उपयोग करते है, परंतु वह तो सर्वथा दुरुपयोग है। रायचंदभाई की प्रकृति उन्हें बलात्कार गहरे पानी मे ले गई। ऐसे कार्य को दोषरूप से भी लगभग संपूर्ण आत्माओं मे ही माना जा सकता है। हम सामान्य मनुष्य तो परो-पकारी कार्य के पीछे अवश्य पागल बन जाते है, तभी उसे कदाचित् पूरा कर पाते है।

यह भी मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने भोले होते है कि उन्हें सबकोई ठग सकता है। उन्हे दुनिया की बातो की कुछ भी खबर नही पड़ती। यदि यह बात ठीक है तो कृष्णचंद्र और रामचंद्र दोनों अवतारों को केवल संसारी मनुष्यों मे ही गिनना चाहिए। कवि कहते थे कि जिसे शुद्ध ज्ञान है उसका ठगा जाना असभव होना चाहिए। मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिमान् होने पर भी कदाचित् ज्ञानी न हो, परंतु मोक्ष के लिए नीति और अनुभव ज्ञान का सुसंगम होना चाहिए। जिसे अनुभव-ज्ञान हो गया है, उसके पास पाखंड निभ ही नही सकता। सत्य के पास असत्य नहीं निभ सकता। अहिंसा के सान्निध्य मे हिंसा बंद हो जाती है। जहां सरलता प्रकाशित होती है वहां छल-रूपी अंधकार नष्ट हो जाता

है। ज्ञानवान और धर्मवान यदि कपटी को देखे तो उसे फौरन पहचान लेता है और उसका हृदय दया से आर्द्र हो जाता है। जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देख लिया है वह दूसरे को पहचाने बिना कैसे रह सकता है। कोई-कोई धर्म के नाम पर उन्हे ठग भी लेते थे। ऐसे उदाहरण नियम की अपूर्णता सिद्ध नही करते, परतु ये शुद्ध ज्ञान की ही दुर्लभता सिद्ध करते है।

इस तरह के अपवाद होते हुए भी व्यवहार-कुशलता और धर्मपरायणता का सुदर मेल जितना मैने कवि मे देखा है उतना किसी दूसरे मे देखने मे नही आया।

... .

रायचदभाई के धर्म का विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि धर्म का उन्होने क्या स्वरूप समझाया था।

धर्म का अर्थ मतमतातर नही। धर्म का अर्थ शास्त्रो के नाम से कही जानेवाली पुस्तको को पढ जाना, कठस्थ कर लेना अथवा उनमे जो कुछ कहा है, उसे मानना भी नही है।

धर्म आत्मा का गुण है और वह मनुष्य-जाति मे दृश्य अथवा अदृश्य रूप से मौजूद है। धर्म से हम मनुष्य-जीवन का कर्तव्य समझ सकते है। धर्म द्वारा हम दूसरे जीवो के साथ अपना सच्चा सबध पहचान सकते है। यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनेको न पहचान ले तबतक यह सब कभी भी नही हो सकता। इसलिए धर्म वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने-आपको स्वय पहचान सकते है।

यह साधन हमे जहा-कही मिले, वही से प्राप्त करना चाहिए। फिर भले ही वह भारतवर्ष मे मिले, चाहे यूरोप से आये या अरब-स्तान से आये। इन साधनो का सामान्य स्वरूप समस्त धर्म-शास्त्रों मे एक ही सा है। इस बात को वह कह सकता है जिसने भिन्न-भिन्न शास्त्रो का अभ्यास किया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नही कहता कि असत्य बोलना चाहिए, अथवा असत्य आचरण करना चाहिए। हिसा करना किसी भी शास्त्र मे नही बताया। समस्त शास्त्रो का दोहन करते हुए शकराचार्य ने कहा है, "ब्रह्म

सत्यं जगन्मिथ्या।" उसी बात को कुरानशरीफ में दूसरी तरह कहा है कि ईश्वर एक ही है और वही है, उसके बिना और दूसरा कुछ नही। बाइबिल मे कहा है कि मै और मेरा पिता एक ही हैं। ये सब एक ही वस्तु के रूपातर है। परंतु इस एक ही सत्य के स्पष्ट करने मे अपूर्ण मनुष्यों ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिदुओ को काम में लाकर हमारे लिए मोह-जाल रच दिया है। उसमें से हमें बाहर निकलना है। हम अपूर्ण है और अपने से कम अपूर्ण की मदद लेकर आगे बढते है और अत मे न जाने अमुक हृदय तक जाकर ऐसा मान लेते है कि आगे रास्ता ही नही है, परतु वास्तव में ऐसी बात नही है। अमुक हद के बाद शास्त्र मदद नही करते, परंतु अनुभव मदद करता है। इसलिए रायचदभाई ने कहा है :

"ए पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ध्यानमां, कहीं शक्या नही ते पद श्रीभगवंत जो एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यानमें, गजावयर पण हाल मनोरथ रूप जो..."

इसलिए अंत मे तो आतमा को मोक्ष देनेवाली आतमा ही है।

इस शुद्ध सत्य का निरूपण रायचंदभाई ने अनेक प्रकारों से अपने लेखो मे किया है। रायचदभाई ने बहुत-सी धर्म-पुस्तकों का अच्छा अभ्यास किया था। उन्हें सस्कृत और मागधी भाषा को समझने में जरा भी मुश्किल न पडती थी। उन्होने वेदांत का अभ्यास किया था। इसी प्रकार भागवत और गीताजी का भी उन्होने अभ्यास किया था। जैन-पुस्तके तो जितनी भी उनके हाथ मे आती, वह बाच जाते थे। उनके बाचने और ग्रहण करने की शक्ति अगाध थी। पुस्तक का एक बार का वाचन उन पुस्तकों के रहस्य जानने के लिए उन्हे काफी था। कुरान, जदेअवस्ता आदि पुस्तके भी वह अनुवाद के जरिए पढ गये थे।

वह मुझसे कहते थे कि उनका पक्षपात जैन-धर्म की ओर था। उनकी मान्यता थी कि जिनागम मे आतमज्ञान की पराकाष्ठा है, मुझे उनका यह विचार बता देना आवश्यक है।

परंतु रायचदभाई का दूसरे धर्मो के प्रति अनादर न था, बल्कि

वेदांत के प्रति पक्षपात भी था। वेदांती को तो कवि वेदांती ही मालूम पड़ते थे। मेरे साथ चर्चा करते समय मुझे उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसी खास धर्म का अवलंबन लेना चाहिए। मुझे अपना ही आचार-विचार पालने के लिए उन्होंने कहा। मुझे कौन-सी पुस्तकें बांचनी चाहिए, यह प्रश्न उठने पर, उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपन के संस्कार देखकर मुझे गीताजी बांचने के लिए उत्तेजित किया और दूसरी पुस्तकों में पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवासिष्ठ का वैराग्य प्रकरण, काव्य-दोहन पहला भाग, और अपनी मोक्षमाला बांचने के लिए कहा।

रायचंदभाई बहुत बार कहा करते थे कि भिन्न-भिन्न धर्म तो एक तरह के बाड़े हैं और उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्ष-प्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है, उसे अपने माथे पर किसी भी धर्म का तिलक लगाने की आवश्यकता नहीं।

सूरत आवे त्यम तुं रहे, ज्यम त्यम करिने हरीने लहे। ....

अर्थात्—जैसे सूत निकलता है वैसे ही तू रह! जैसे बने तैसे हरि को प्राप्त कर।

जैसे अखा का यह सूत्र था वैसे ही रायचंदभाई का भी था। धार्मिक झगड़ों से वे हमेशा ऊबे रहते थे। उनमें वह शायद ही कभी पड़ते थे। वह समस्त धर्मों की खूबियां पूरी तरह से देखते और उन्हें उन धर्मावलंबियों के सामने रखते थे। दक्षिण अफ्रीका के पत्र-व्यवहार में भी मैंने यही वस्तु उनसे प्राप्त की।

मैं स्वयं तो यह माननेवाला हूं कि धर्म उस धर्म के भक्तों की दृष्टि से संपूर्ण है, और दूसरों की दृष्टि से अपूर्ण है। स्वतंत्र रूप से विचार करने से सब धर्म पूर्णापूर्ण हैं। अमुक हद के बाद सब शास्त्र बंधन रूप मालूम पड़ते हैं। परंतु यह तो गुणातीत की अवस्था हुई। रायचंदभाई की दृष्टि से विचार करते हैं तो किसीको अपना धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं। सब अपने-अपने

धर्म मे रहकर अपनी स्वतंत्रता मोक्ष प्राप्त कर सकते है; क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ सर्वांश से राग-द्वेष रहित होना ही है।[1]

: २२ :

आचार्य सुशील रुद्र

आचार्य सुशील रुद्र का देहांत ३० जून, १९२५ को होगया। वह मेरे एक आदरणीय मित्र और खामोश समाज-सेवी थे। उनकी मृत्यु से मुझे जो दुःख हुआ है उसमे पाठक मेरा साथ दे। भारत की मुख्य बीमारी है राजनैतिक गुलामी। इसलिए वह उन्हीको मानता है, जो उसे दूर करने के लिए खुले आम सरकार से लड़ाई लडते है, और जिसने कि अपनी जल और थल-सेवा तथा धन-बल और कूट-नीति के द्वारा अपनी मजबूत मोर्चाबंदी कर ली है। इससे स्वभावतः उसे उन कार्यकर्ताओ का पता नही रहता जो निःस्वार्थ होते है, और जो जीवन के दूसरे विभागो मे, जो कि राजनीति से कम उपयोगी नही होते है, अपनेको खपा देते है। सेंट-स्टीफंस कालेज, दिल्ली, के प्रिंसिपल सुशीलकुमार रुद्र ऐसे ही विनीत कार्यकर्त्ता थे। वह पहले दरजे के शिक्षा-शास्त्री थे। प्रिंसिपल के नाते वह चारों ओर लोकप्रिय हो गये थे। उनके और उनके विद्यार्थियों के बीच एक प्रकार का आध्यांत्मिक संबंध था। यद्यपि वह ईसाई थे, तथापि वह अपने हृदय मे हिंदू-धर्म और इस्लाम के लिए भी जगह रखते थे। इन्हे वह बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उनका ईसाई धर्म औरो से फटक कर अलग रहनेवाला न था, जो अकेले ईसामसीह को दुनिया का तारनहार न मानता हो उसके सर्वनाश की दुहाई देनेवाला न था। अपने धर्म पर दृढ रहते हुए भी वह औरों को सहन करते थे। वह राजनीति के बडे तेज और चिंताशील स्वाध्यायी थे। अग्रगामी कहे जानेवाले लोगो के प्रति अपनी

---

[1] 'श्रीमद्‌राजचंद्र' से

सहानुभूति की कवायद जहा वह न दिखाते थे, वहा वह छिपाते न थे। जब से, १९१५ से, मै अफ्रीका से लौटा मै जब-कभी दिल्ली जाता, उन्हीका अतिथि होता। रौलट कानून के सिलसिले मे जबतक मैने सत्याग्रह नही छेडा तबतक यह कार्य निर्विघ्न जारी रहा। ऊचे हल्को मे उनके कितने ही अग्रेज मित्र थे। एक पूरे अग्रेजी मिशन से उनका सबध था। अपने कालेज के वह पहले ही हिंदुस्तानी प्रिंसिपल थे। इसलिए मेरे दिल ने कहा कि मेरा उनके साथ समागम रहने और उनके घर मे ठहरने से शायद लोगो को यह गलत खयाल हो कि मेरा उनका मतैक्य है और उनके साथियो को अनावश्यक सकट का सामना करना पडे। इसलिए मैने दूसरी जगह ठहरना चाहा। उनका जवाब अपने ढग का था—"मेरा धर्म लोगो के अनुमान से अधिक गहरा है। मेरे कुछ मत तो मेरे जीवन के घनिष्ठ अंग है। वे गहरे और दीर्घकाल के मनन और प्रार्थना के बाद निश्चित हुए है। मेरे अग्रेज मित्र उन्हे जानते है। यदि अपने सम्माननीय मित्र और अतिथि के रूप मे मै आपको अपने घर मे रखू तो वे इसका गलत अर्थ नही कर सकते। और यदि कभी मुझे इन दो बातो मे से कि अग्रेज के अदर जो कुछ मेरा प्रभाव है वह चला जाय या आप किसी एक को चुनना पड़े तो मै जानता हू कि मै किस चीज को पसद करूगा। आप मेरे घर को नही छोड सकते।" तब मैने कहा—"लेकिन मुझसे तो हर किस्म के लोग मिलने के लिए आते है। आप अपने मकान को सराय तो बना नही सकते।" उन्होने उत्तर दिया—"सच पूछो तो मुझे यह सब अच्छा मालूम होता है। आपके मित्रो का आना-जाना मुझे पसद है। यह देखकर मुझे आनद होता है कि आपको अपने मकान मे ठहराकर मेरे हाथो कुछ देश-सेवा हो रही है।" पाठको को शायद मालूम न हो कि खिलाफत के दावे को प्रत्यक्ष रूप देने के लिए जो पत्र मैने वायसराय को लिखा था उसका विचार और मसविदा प्रिंसिपल रुद्र के मकान मे तैयार हुआ था। वह तथा चार्ली एंड्रूज उसमे सुधार सुझानेवाले थे। उन्हीके घर की छांह मे

बैठकर असहयोग की कल्पना उत्पन्न और प्रवर्तित हुई। मौलानाओं, दूसरे मुसलमानों तथा अन्य मित्रों और मेरे बीच जो निजी मंत्रणा हुई उसकी कार्रवाही को वह बड़ी दिलचस्पी के साथ चुपचाप देखते थे। उनके तमाम कार्य धर्म-भाव से प्रेरित होते थे ऐसी हालत मे दुनियावी सत्ता छिन जाने का कोई डर न था—तथापि वही धर्म-भाव उन्हे सासारिक सत्ता के अस्तित्व और उपयोग तथा मित्रता के मूल्य को समझने मे सहायक होता था। जिस धार्मिक भाव से मनुष्य को विचार और आचार के सुदर मेल का यथार्थ ज्ञान होता है, उसकी सत्यता को उन्होंने अपने जीवन मे चरितार्थ कर दिखाया था। आचार्य रुद्र ने अपनी ओर इतने उच्च चरित्र लोगो को आकर्षित किया था, जिनके सहवास की इच्छा किसीको हो सकती है। बहुत लोग नही जानते हैं कि श्री सी० एफ० एंड्रयूज हमे प्रिंसिपल रुद्र के ही कारण प्राप्त हुए है। वे जुड़े भाई जैसे थे। उनका स्नेह आदर्श मित्रता के अध्ययन का विषय था।

प्रिंसिपल रुद्र अपने पीछे दो लड़के और एक लड़की को छोड़ गये है।[१]

: २३ :

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय को गिरफ्तार क्या किया, सरकार ने हमारे एक वडे-से-वडे मुखिया को पकड लिया है। उसका नाम भारत के वच्चे-वच्चे की जबान पर है। अपने स्वार्थ-त्याग के कारण वह अपने देश-भाइयो के हृदय मे उच्च स्थान प्राप्त कर चुके है। अहिसा के प्रचार के लिए और उसके साथ ही लोकमत को संगठित और प्रकट करने के लिए उन्होंने जितना परिश्रम किया

---

[१] हिंदी नवजीवन, ९-७-२५

है उतना बहुत ही थोडे लोगो ने किया है। उनकी गिरफ्तारी से सरकार की नीति या वृत्ति का जितना सच्चा पता चलता है उतना दूसरी किसी बात से नही।

पजाबी भाई लालाजी को बडे-से-बडा गौरव जो दे सकते हैं वह यह है कि वे यही समझकर कि लालाजी हमारे साथ ही हैं, उनका काम बराबर आगे बढाते रहे।[१]

... ...

आखिरकार लाजपतराय, पडित सतानम, मलिक लालखान और डाक्टर गोपीचद के मुकदमे का फैसला हो गया। लालाजी तथा पडित सतानम को अठारह महीने की कैद की सजा दी गई। अभियुक्तो के बहुतेरा विरोध करने पर भी सरकार ने जबरदस्ती उनके बचाव के लिए एक वकील नियुक्त किया था। इस तमाशे के होते हुए भी उनको सजा दी जाना तो निश्चित ही था। सजा का हुक्म सुनाये जाने के जरा पहले ही लालाजी ने मुझे एक पत्र लिखा। उसमे उनके चित्त की प्रसन्नता टपकी पडती है। वह इस प्रकार है

"आपने जो स्नेहपूर्ण टिप्पणी लिखी है तथा रामप्रसादजी और पुरुषोत्तमलाल के द्वारा जो सदेश भेजा, उनके लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। मै बहुत मजे मे हू। मैने अन्न-त्याग नही किया था। मै अपने आराम के लिए शोरोगुल मचाने के खिलाफ हू। हम यहा इसलिए नही आये है कि किसी तरह की सुविधाएं या रियायते चाहे। सच्चा हाल अखबारो मे जाहिर हुआ है और आशा है कि वह अब आप तक पहुच गया होगा। हम सब लोगों का चित्त बहुत प्रसन्न है और मै राष्ट्रीय पाठशालाओ तथा धार्मिक ग्रथो के अध्ययन मे अपने समय का खूब सदुपयोग कर रहा हू। अहमदाबाद मे जो कुछ हुआ है उसके तथा सर्वपक्षीय परिषद् (राउड टेबल काफ्रेस) के हालात मुझे मालूम हो गये हैं। हमारी

---

[१] हिंदी नवजीवन, ११-१२-२१

तकलीफों की वजह से हमारे सिद्धांतो के निर्णय मे बाधा न होने दीजिएगा। आप यकीन मानिये, हम अपने मनोरथ को पूरा करने के लिए जबतक चाहिए तबतक और जितनी चाहिए, उतनी तकलीफे बरदाश्त करने को हर तरह से तैयार है। और अब जब कि उसीके लिए हम यहां आये हुए है तो हमे उसे अत तक निबाहना चाहिए।"

हमे आशा करनी चाहिए कि लालाजी और पंडित संतानम को उनका अध्ययन जारी रखने दिया जायगा। मै उन्हे तथा उनके साथियो को यह भी सूचित करने का साहस करूंगा कि वे मौलाना शौकतअली और श्री राजगोपालाचारी तथा उनके साथियो का अनुकरण करे, अर्थात् वे साहित्य-सबधी उद्योगो के साथ-ही-साथ चरखा कातने पर भी ध्यान देगे। मै अभिवचन देता हूं कि बीच-बीच मे चरखा कातते रहने से लालाजी के इतिहास-लेखन तथा पंडित संतानम के संस्कृत-अध्ययन मे हानि न होगी।[1]

... ...

मैने तो लालाजी को एक बच्चे के समान खुले दिलवाला पाया है। उनके त्याग की जोड़ लगभग हुई नही। मेरी उनसे हिंदू-मुसलमानो के बारे मे एक बार नही, अनेक बार बाते हुई है। वह मुसलमानों के साथ तनिक भी दुश्मनी नही रखते; लेकिन उन्हें जल्दी एकता हो जाने मे शक है। वह ईश्वर से प्रकाश पाने के लिए प्रार्थना कर रहे है। खुद शकित रहते हुए भी वह हिंदू-मुसलमानों की एकता के कायल है, क्योकि जैसाकि उन्होने मुझसे कहा है वह स्वराज्य के कायल है। वह मानते है कि ऐसी एकता के विना स्वराज्य स्थापित नही हो सकता। तो भी वह यह नही जानते कि यह एकता किस तरह और कब होगी। मेरा उपाय उन्हे पसद है, परंतु इस बात में शक है कि हिंदू लोग उसका मर्म समझ पावेगे

[1] हिंदी नवजीवन, २५-१-२२

या नही और अगर समझ पावेगे तो उसकी शराफत की कदर करेगे या नही ।[1]

. . ..

कहा जाता है कि किसीने यह सवाद भेजा है कि अमृतसर की खिलाफत-परिषद मे मैने लाला लाजपतराय को भीरु कहा है। लालाजी जो कुछ भी हो, वह भीरु नही है। मेरे व्याख्यान का पूर्वापर सबध देखने से प्रतीत होगा कि मै उनका इस आक्षेप से कि वह मुसलमानो के विरोधी है बचाव कर रहा था। उस समय मैने जो कुछ कहा था वह यह है. लालाजी सदा शांत चित्त रहते है और उन्हे मुसलमानो के उद्देश्य के बारे मे बडी शका रहती है। लेकिन वह मुसलमानो की दोस्ती सच्चे दिल से चाहते है। लालाजी के प्रति मेरा बडा आदर-भाव है। मै उन्हे बहादुर, आत्म-त्यागी, उदार, सत्यनिष्ठ और ईश्वर से डरनेवाला मानता हू । उनका स्वदेश-प्रेम बडा ही शुद्ध है। देश की जितनी और जैसी सेवा उन्होने की है उसमे उनकी बराबरी करनेवाले बहुत कम है। और यदि ऐसे शख्सो पर सदेह किया जा सके कि उनके उद्देश्यहीन है तो हमे हिदू-मुस्लिम-ऐक्य से उसी प्रकार निराश होना पडेगा जिस प्रकार हमे अली भाइयो पर हीन उद्देश्य रखने का सदेह करने पर निराश होना पडे। हम सब अपूर्ण है, हमारा मत एक-दूसरे के खिलाफ दूषित हो गया है। हम, हिदू और मुसलमान, जैसे है वैसे ही समझे जाने चाहिए। जो हिदू-मुस्लिम-ऐक्य को अपना धर्म मानते है उन्हे तो जो साधन हमारे पास है उसीके द्वारा उसे सपादन करने का प्रयत्न करना चाहिए। [2]

... ...

[1] हिंदी नवजीवन १–६–२४

[2] हिंदी नवजीवन, १४-१२-२४

"आपके तार के लिए आभार मानता हू। लोगो की ओर से पुलिस को हमला करने के लिए कोई कारण नही मिला है। यह मामला इरादापूर्वक किया गया था। दो सख्त चोटे लगी है, मगर गंभीर नही है। एक बाई छाती पर और एक कधे पर लगी है। दूसरी चोटे सत्यपाल, गोपीचद, हंसराज, महम्मद आलम आदि मित्रो ने सभाल ली। दूसरो पर भी मार पडी है और चोटे लगी है, किंतु चिता का कोई कारण नही है।"[1]

—लाजपतराय

मैने लाला लाजपतराय को तार से धन्यवाद दिया था और हालत पूछी थी। उसके जवाब मे तुरंत ही लालाजी ने ऊपर का तार भेजा। आज के लोगो मे से, जबकि अधिकाश की अभी रेखे भी नही भीगी थी, लालाजी ने 'पंजाब केसरी' का नाम पाया था। अबतक उनका यह अल्काब जैसा-का-तैसा कायम है, क्योकि चाहे उनके पक्ष और विपक्ष मे कुछ भी क्यो न कहा जाय, वह अब भी पंजाब के सबसे बड़े निर्विवाद नेता है और सारे भारतवर्ष मे सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित नेताओ मे से है। वह महासभा के सभापति हो चुके है, यूरोप मे उनका नाम है और वह उन गिने-चुने नेताओ से है, जो दिल की बात तुरंत ही कह देते है, गो कोई भले ही गलतफहमी करे या इससे भी अधिक उन्हे अक्सर पहचाननेवाला मूर्ख समझे। मगर लालाजी अपनी आदत से लाचार है; क्योकि वह अपने दिल मे कोई बात छिपाकर रख ही नही सकते। जो बात सोची, वह वह कहेगे ही। इसलिए जब मैने यह शीर्षक पढा "लालाजी पर मार" और मार के ब्यौरे पढे तभी मेरे मुह से निकल गया—"शाबाश!" अब हमे स्वराज्य पाने मे बहुत देर नही लगेगी, क्योकि चाहे हमारी शांति हिंसक हो या अहिंसक,

स्वतत्र होने के पहले हमे देश के नाम पर मरने की कला सीखनी होगी। इसके अलावा जबतक महान प्रयत्न न किया जावे, अहिसक दबाव से भी शासक झुकेगे नही। आदर्श और सपूर्ण अहिसा के सामने, मै यह कल्पना कर सकता हू कि शासको की वृत्ति बिल्कुल ही बदल जानी संभव है। मगर गोकि आदर्श और सपूर्ण कार्यक्रम बनाना सभव है, तथापि उसका सपूर्ण और आदर्श अमल कभी सभव नही है, इसलिए सबसे सस्ती बात यही है कि नेताओ पर मार पडे या गोली चले। अबतक अनजान आदमियो पर मार पडी है या वे मारे गये है। थोडे-से आदमियो को गोली मारने से भी देश का ध्यान जितना आकर्षित नही होता उससे कही अधिक लालाजी पर हमला करने से हुआ है। लालाजी तथा दूसरे नेताओ पर हमले से हिदुस्तान के राजनीतिज्ञ विचार मे पड गये है और सरकार की शाति तो जरूर ही भंग हो गई होगी।[१]

... ...

. . . लाला लाजपतराय का देहात हो गया। लालाजी चिर-जीवी होवे। जबतक हिदुस्तान के आकाश मे सूर्य चमकता है तब-तक लालाजी मर नही सकते। लालाजी तो एक सस्था थे। अपनी जवानी के ही समय से उन्होने देशभक्ति को अपना धर्म बना लिया था और उनके देशप्रेम मे सकीर्णता न थी। वह अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वह ससार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अतर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी। इसलिए यूरोपियन लोगो पर भी उनका इतना अधिक प्रभाव था। यूरोप और अमेरिका मे उनके अनेक मित्र थे। वे मित्र लालाजी को जानते थे और इसलिए उनसे प्रेम करते थे।

उनकी सेवाए विविध थी। वह बडे ही उत्साही समाज और धर्म-सुधारक थे। हममे से बहुत-से लोगो के समान वह भी इसीलिए राजनीतिज्ञ बने थे कि समाज और धर्म-सुधार की उनकी लगन

---

[१] हिंदी नवजीवन, ८-११-२८

राजनीति मे शामिल हुए बिना पूरी होती ही नही थी। सार्वजनिक जीवन शुरू करने के कुछ ही समय बाद उन्होने देख लिया था कि विदेशी गुलामी से देश के स्वतंत्र हुए बिना हमारे इच्छित सुधारों में से बहुत-से नही हो सकेंगे। जैसाकि हममे से बहुतों को जान पड़ता है, उन्हे भी जान पड़ा था कि विदेशी परतत्रता का जहर देश की नस-नस में घुस गया है।

ऐसे एक भी सार्वजनिक आंदोलन का नाम लेना असंभव है, जिसमे लालाजी शामिल न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होने शिक्षण-संस्थाए खोली, वह दलितों के मित्र बने, जहा कही दुःख-दारिद्रय हो, वही वह दौड़ते थे। नवयुवकों को वह असाधारण प्रेम से अपने पास जमा करते थे। सहायता के लिए किसी नौजवान की प्रार्थना उनके पास बेकार न गई। राजनैतिक क्षेत्र मे वह ऐसे थे कि उनके बिना चल ही नही सकता था। अपने विचार प्रकट करने मे वह कभी भयभीत न हुए। उस समय भी जबकि कष्ट सहना रोजमर्रा की बात नही हो गई थी, अपने विचार निर्भीकता से प्रकाशित करने के लिए उन्होने कष्ट सहा था। उनके जीवन मे कोई छिपा हुआ रहस्य नही था। उनकी अत्यंत अधिक स्पष्टवादिता से मित्रों को प्रायः घबराहट मे पड़ना होता था, उनके आलोचक भी चक्कर मे पड़ जाते थे, मगर उनकी यह आदत छूटनेवाली नही थी।

मुसलमान मित्रों का लिहाज रखता हुआ भी मैं दावे के साथ यह कहता हूं कि लालाजी इस्लाम के दुश्मन नही थे। हिंदू-धर्म को सबल बनाने तथा शुद्ध करने की उनकी प्रबल इच्छा को भूल से मुसलमानों या इस्लाम के प्रति घृणा नही समझनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानों मे एकता स्थापित करने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वह हिंदूराज की चाहना नही करते थे, वह हिंदुस्तानी राज की इच्छा करते थे। अपने-आपको हिंदुस्तानी कहनेवाले सभी लोगो मे वह सपूर्ण समानता स्थापित करना चाहते थे। लालाजी की मृत्यु से भी हम परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास करना

सीखे और अगर हम निर्भय बन जाय तो यह तुरत ही सभव है।

उनके लिए एक राष्ट्रीय स्मारक की माग अवश्य ही होनी चाहिए और वह होगी भी। मेरी विनम्र सम्मति मे कोई स्मारक तबतक सपूर्ण नही हो सकता जबतक कि स्वतत्रता जरूर प्राप्त करनी है, यह दृढ विश्वास न हो, और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए वह जीते थे, इसीके लिए उनकी ऐसी गौरवमयी मृत्यु भी हुई। जरा हम याद करे कि उनकी अतिम इच्छा क्या थी। उन्होने नई पीढी को हिदुस्तान की स्वतत्रता प्राप्त करने तथा उसके गौरव की रक्षा करने का भार सौपा है। नई पीढी मे उन्होने जो विश्वास दिखलाया, वह क्या उसके योग्य आपको साबित करेगी? और हम बूढो मे से, जो भारतवर्ष को स्वतत्र देखने के लालाजी तथा दूसरे अनेक स्वर्गीय देशभक्तो के स्वप्न को सही बनाने के लिए अभी तक बचे हुए हैं, एक बार सभी मिलकर महान प्रयत्न कर अपनेको लालाजी के जैसे देशबधु पाने का अधिकारी सिद्ध करेगे।[१]

... ...

.... जब राजनीति को लोग भूल जायगे, जब जनता का ध्यान खीच लेनेवाली अनेक क्षणभगुर वस्तुए भी विस्मृत हो जायगी, तब भी लालाजी के गभीर और विशाल हरिजन-प्रेम को और उनकी तज्जनिक महान् सेवाओ को करोड़ो हिदू ही नही, बल्कि कोटिश. सवर्ण हिदू भी—और हिदू ही क्यो, समस्त भारत-वर्ष बड़ी श्रद्धा-भक्ति से याद किया करेगा। लालाजी एक महान् मानव-प्रेमी थे और उनका वह मानव-प्रेम विश्वव्यापी था। उनकी प्रत्येक वर्षी के अवसर पर हमे अपने जीवन मे लालाजी को उनकी प्रत्येक विगत वर्षी की अपेक्षा, अधिकाधिक सजीव करते जाना चाहिए। लालाजी-जैसे समाज-सुधारको का जब निधन होता है तब केवल उनकी देह का ही नाश होता है। उनका कार्य और

---

[१] हिंदी नवजीवन, २२-११-२८

उनके विचारों का देह के साथ अंत नहीं होता। उनकी शक्ति तो उत्तरोत्तर बढती जाती है। हमे इसका अनुभव तब और अधिक होता है जब हम देखते है कि ज्यो-ज्यो समय बीतता है त्यों-त्यों इस जीर्ण चोले के बाहर इसका प्रभाव स्वत. प्रकट होता जाता है। मनुष्य के अंदर जो क्षणजीवी अश है वह देह के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है, किंतु मनुष्य का जो शाश्वत अविनाशी अंश है वह तो देह के भस्मीभूत होने पर भी जीवित रहता है और देह का बंधन दूर हो जाने से वह और भी अधिक प्रकाशमान हो जाता है। इस विचार को सामने रखकर हमे लालाजी की स्मृति को चिरजीवी रखना चाहिए। हरिजन हिंदू तथा सवर्ण हिंदू, दोनो ही स्व० लालाजी का पुण्यस्मरण करके हिंदू-समाज मे से यह अस्पृश्यता का पाप-कलंक धो डालने का नये सिरे से संकल्प करें। हरिजन तो उन त्रुटियो को दूर करे जो अत्याचार बर्दाश्त करते-करते लोगो मे पैदा हो जाती है और सवर्ण अपने उस पाप को पखारकर शुद्ध हो जायं, जो उन्होंने हरिजनो को जन्मना अस्पृश्य और अपने को जन्मना उच्च मान कर किया है।[1]

: २४ :

वासंती देवी

कुछ वर्ष पूर्व मैंने स्वर्गीय रमाबाई रानडे के दर्शन का वर्णन किया था। मैंने आदर्श विधवा के रूप मे उनका परिचय दिया था। इस समय मेरे भाग्य मे एक महान् वीर की विधवा के वैधव्य के आरंभ का चित्र उपस्थित करना बदा है।

वासंती देवी के साथ मेरा परिचय १९१९ मे हुआ है। गाढ़ परिचय १९२१ मे हुआ। उनकी सरलता, चातुरी और उनके अतिथि-सत्कार की बहुतेरी बातें मैंने सुनी थी। उनका अनुभव

[1] हरिजन-सेवक, २३-११-३४

भी ठीक-ठीक हुआ था। जिस प्रकार दार्जिलिंग मे देशबंधु के साथ मेरा संबंध घनिष्ठ हुआ उसी तरह वासंती देवी के साथ भी हुआ। उनके वैधव्य मे तो परिचय बहुत ही बढ गया है। जब से वह दार्जिलिंग से शव को लेकर कलकत्ते आई है तब से मै कह सकता हूं कि उनके साथ ही रहा हू। वैधव्य के बाद पहली मुलाकात उनके दामाद के घर हुई। उनके आस-पास बहुतेरी बहने बैठी थी। पूर्वाश्रम मे तो जब मैं उनके कमरे मे जाता तो खुद वही सामने आती और मुझे बुलाती। वैधव्य मे मुझे क्या बुलाती? पुतली की तरह स्तम्भित बैठी अनेक बहनो मे से मुझे उन्हे पहचानना था। एक मिनट तक तो मै खोजता ही रहा। मांग मे सिंदूर, ललाट पर कुकुम, मुह मे पान, हाथ मे चूड़ियां और साडी पर लेस, हँस-मुख चेहरा—इनमे मे से एक भी चिन्ह मै न देखू तो वासती देवी को किस तरह पहचानू? जहां मैंने अनुमान किया था कि वह होगी वहां जाकर बैठ गया और गौर से मुख-मुद्रा देखी। देखना असह्य हो गया। चेहरा तो पहचान मे आया। रुदन रोकना असभव हो गया। छाती को पत्थर बनाकर आश्वासन देना तो दूर ही रहा।

उनके मुख पर सदा-शोभित हास्य आज कहा था? मैंने उन्हें सत्वना देने, रिझाने और बातचीत कराने की अनेक कोशिशे की। बहुत समय के बाद मुझे कुछ सफलता मिली।

देवी जरा हँसी।

मुझे हिम्मत हुई और मै बोला, "आप रो नही सकती। आप रोवेगी तो सब लोग रोवेगे। मोना (बड़ी लडकी) को बड़ी मुश्किल से चुपकी रखा है। बेबी (छोटी लड़की) की हालत तो आप जानती ही है। सुजाता (पुत्रवधू) फूट-फूटकर रोती थी, सो बड़े प्रयास से शात हुई है। आप दया रखिएगा। आपसे अब बहुत काम लेना है।"

वीरांगना ने दृढता-पूर्वक जवाब दिया, "मै नही रोऊंगी।

मुझे रोना आता ही नही ।"

मै इसका मर्म समझा, मुझे संतोष हुआ ।

रोने से दु.ख का भार हल्का हो जाता है। इस विधवा बहन को तो भार हलका नही करना था, उठाना था। फिर रोती कैसे ?

अब मै कैसे कह सकता था—"लो, चलो, हम भाई-बहन पेट भर रो ले और दु·ख कम कर ले ?"

हिदू विधवा दु·ख की प्रतिमा है । उसने संसार के दुख का भार अपने सिर ले लिया है । उसने दु.ख को सुख बना डाला है । दु.ख को धर्म बना डाला है ।

वासंती देवी सब तरह के भोजन करती थी । १९२० तक के समय मे उनके यहां छप्पन भोग होते थे और सैकडो लोग भोजन करते थे । पान के बिना वह एक मिनिट नही रह सकती थी । पान की डिबिया पास ही पड़ी रहती थी ।

अब श्रृंगार-भाव का त्याग, पान का त्याग, मिष्ठानो का त्याग, मांस-मत्स्य का त्याग, केवल पति का ध्यान, परमात्मा का ध्यान । . . .

इस दु ख को सहन करना धर्म है या अधर्म ? और धर्मो मे तो ऐसा नही देखा जाता । हिदू-धर्मशास्त्रियो ने भूल तो न की हो ? वासंती देवी को देखकर मुझे इसमे भूल नही दिखाई देती, बल्कि धर्म की शुद्ध भावना दिखाई देती है। वैधव्य हिदू-धर्म का श्रृंगार है। धर्म का भूषण वराग्य है, वैभव नही । दुनिया भले ही और कुछ कहे तो कहती रहे ।

परंतु हिदू-शास्त्र किस वैधव्य की स्तुति और स्वागत करता है ? १५ वर्ष की मुग्धा के वैधव्य का नही जो कि विवाह का अर्थ भी नही जानती । बाल-विधवाओ के लिए वैधव्य धर्म नही, अधर्म है । वासती देवी को मदन खुद आकर ललचावे तो वह भस्म हो जाय । वासती देवी के शिव की तरह तीसरी आख है । परंतु पद्रह वर्ष की बालिका वैधव्य की शोभा को क्या समझ सकती है ? उसके लिए तो वह अत्याचार ही है । बाल-विधवाओ की वृद्धि मे मुझे

हिंदू-धर्म की अवनति दिखाई देती है। वासंती देवी-जैसी के वैधव्य मे मै शुद्ध धर्म का पोषण देखता हू। वैधव्य सब तरह, सब जगह, सब समय, अनिवार्य सिद्धात नही है। वह उस स्त्री के लिए धर्म है जो उसकी रक्षा करती है।

रिवाज के कुए मे तैरना अच्छा है। उसमें डूबना आत्म-हत्या है।

जो बात स्त्री के सबध मे वही बात पुरुष के सबध मे होनी चाहिए। राम ने यह कर दिखाया। सती सीता का त्याग भी वह सह सके। अपने ही किये त्याग से खुद ही जले। जब से सीता गई तब से रामचद्र का तेज घट गया। सीता के देह का तो त्याग उन्होने किया, पर उसे अपने हृदय की स्वामिनी बना लिया। उस दिन से उन्हे न तो शृगार भाया, न दूसरा वैभव। कर्तव्य समझ-कर तटस्थता के साथ राज्य-कार्य करते हुए शांत रहे।

जिस बात को आज वासती देवी सह रही है, जिसमे से वह अपने विलास को हटा सकती है, वे बाते जबतक पुरुष न करेंगे तबतक हिंदू-धर्म अधूरा है। 'एक को गुड और दूसरे को थूहर' यह उल्टा न्याय ईश्वर के दरबार मे नही हो सकता। परतु आज हिंदू-पुरुषो ने इस ईश्वरीय कानून को उलट दिया है। स्त्री के लिए वैधव्य कायम रखा है और अपने लिए श्मशान-भूमि मे ही दूसरे विवाह की योजना करने का अधिकार!

वासती देवी ने अबतक किसीके देखते, आसू की एक बूद तक नही गिराई है। फिर भी उनके चेहरे पर तेज तो आ ही नही रहा है। उनकी मुखाकृति ऐसी हो गई है कि मानो भारी बीमारी से उठी हो। यह हालत देखकर मैंने उनसे निवेदन किया कि थोडा समय निकलकर बाहर हवा खाने चलिये। मेरे साथ मोटर मे तो बैठी, पर बोलने क्यो लगी? मैंने कितनी ही बाते चलाईं—वह सुनती रही। पर खुद उसमे बराय नाम शरीक हुईं। हवाखोरी की तो, पर पछताईं। सारी रात नीद न आई। "जो बात मेरे पति को अतिशय प्रिय थी वह आज इस अभागिनी ने की। यह क्या

शोक है ?" ऐसे विचारो मे रात गई। भोबल (उनका लड़का) मुझे यह खबर दे गया ! आज मेरा मौनवार है। मैने कागज पर लिखा है—"यह पागलपन हमे माताजी के सिर से निकालना होगा। हमारे प्रियतम को प्रिय लगनेवाली बहुतेरी बातें हमें उसके वियोग के बाद करनी पड़ती है। माताजी विलास के लिए मोटर मे नही बैठी थी, केवल आरोग्य के लिए बैठी थी। उन्हे स्वच्छ हवा की बहुत जरूरत थी। हमे उनका बल बढाकर उनके शरीर की रक्षा करनी होगी। पिताजी के काम को चमकाने और बढ़ाने के लिए हमे उनके शरीर की आवश्यकता है। यह माताजी से कहना।"

"माताजी ने तो मुझसे कहा था कि यह बात ही आपसे न कही जाय। पर मुझसे न रहा गया। अभी तो यही उचित मालूम होता है कि आप उन्हे मोटर मे बैठने के लिए न कहें।"—भोबल ने कहा।

बेचारा भोबल ! किसीका लौटाये न लौटने वाला लड़का आज बकरी जैसा बनकर बैठा है ! उसका कल्याण हो !

पर इस साध्वी विधवा का क्या ? वैधव्य प्यारा लगता है, फिर भी असह्य मालूम होता है। सुधन्वा खौलते हुए तेल के कड़ाह मे भटकता था और मुझ-जैसे दूर रहकर देखनेवाले उसके दुःख की कल्पना करके कापते थे। सती स्त्रियो, अपने दुःख को तुम संभाल कर रखना ! वह दुःख नही, सुख है। तुम्हारा नाम लेकर बहुतेरे पार उतर गये हैं और उतरेंगे।

वासंती देवी की जय हो ![1]

---

[1] हिंदी नवजीवन २-७-२५

: २५ :

स्वामी श्रद्धानंद

जिसकी उम्मीद थी वह ही गुजरा। कोई छ महीने हुए स्वामी श्रद्धानदजी सत्याग्रहाश्रम मे आकर दो-एक दिन ठहरे थे। बातचीत मे उन्होने मुझसे कहा था कि उनके पास जब-तब ऐसे पत्र आया करते थे जिनमे उन्हे मार डालने की धमकी दी जाती थी। किस सुधारक के सिर पर बोली नही बोली गई है ? इसलिए उनके ऐसे पत्र पाने मे अचभे की कोई बात नही थी। उनका मारा जाना कुछ अनोखी बात नही है।

स्वामीजी सुधारक थे। वह कर्मवीर थे, वचनवीर नही। जिसमे उनका विश्वास था, उसका वह पालन करते थे। उन विश्वासो के लिए उन्हे कष्ट झेलने पडे। वह वीरता के अवतार थे। भय के सामने उन्होने कभी सिर नही झुकाया। वह योद्धा थे और योद्धा रोग-शैय्या पर मरना नही चाहता। वह तो युद्ध-भूमि का मरण चाहता है।

कोई एक महीना हुआ कि स्वामी श्रद्धानदजी बहुत बीमार पडे। डाक्टर असारी उनकी चिकित्सा करते थे। जितने अनुराग से उनसे सभव था, डाक्टर असारी उनकी सेवा करते थे। इस महीने के शुरू मे मेरे पूछने पर उनके पुत्र प्रो० इद्र ने तार दिया था कि स्वामीजी अब अच्छे है और मेरा प्रेम और दुआ मागते है। मै उनके विना मागे ही उनपर प्रेम और उनके लिए भगवान से प्रार्थना करता ही रहता था।

भगवान को उन्हे शहीद की मौत देनी थी। इसलिए जब वह बीमार ही थे तभी उस हत्यारे के हाथ मारे गये, जो इस्लाम पर धार्मिक चर्चा के नाम पर उनसे मिलना चाहता था, जो स्वामीजी की प्रेरणा से आने दिया गया, जिसने प्यास मिटाने को पानी मागने के बहाने स्वामीजी के ईमानदार नौकर धर्मसिह को पानी लेने

को बाहर हटा दिया और जिसने नौकर की गैरहाजिरी में बिस्तर पर पड़े हुए रोगी की छाती में दो प्राण-घातक चोटें की। स्वामीजी के अंतिम शब्दों की हमें खबर नहीं। लेकिन अगर मैं उन्हें कुछ भी पहचानता था तो मुझे बिल्कुल संदेह नहीं है कि उन्होंने अपने परमात्मा से उसके लिए क्षमा-याचना की होगी, जो यह नहीं जानता था कि वह पाप कर रहा है। इसलिए गीता की भाषा में वह योद्धा धन्य है जिसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है।

मृत्यु तो हमेशा ही धन्य होती है; मगर उस योद्धा के लिए तो और भी अधिक जो अपने धर्म के लिए यानी सत्य के लिए मरता है। मृत्यु कोई शैतान नहीं है। वह तो सबसे बड़ी मित्र है। वह हमें कष्टों से मुक्ति देती है। हमारी इच्छा के विरुद्ध भी हमें छुटकारा देती है। हमें बराबर ही नई आशाएं, नये रूप देती है। वह नींद के समान मीठी है, किंतु तो भी किसी मित्र के मरने पर शोक करने का चलन है। अगर कोई शहीद मरता है तो यह रिवाज नहीं रहता। अतएव इस मृत्यु पर मैं शोक नहीं कर सकता। स्वामीजी और उनके संबंधी ईर्ष्या के पात्र हैं, क्योंकि श्रद्धानंदजी मर जाने पर भी अभी जीते हैं। उनसे भी अधिक सच्चे रूप में वह जीते हैं, जब वह हमारे बीच अपने विशाल शरीर को लेकर घूमा करते थे। ऐसी महिमामय मृत्यु पर जिस कुल में उनका जन्म हुआ था, जिस जाति के वह थे, सभी धन्यता के पात्र हैं। वह वीर पुरुष थे। उन्होंने वीर-गति पाई।[1]

... ...

स्वामी श्रद्धानंद की दृष्टि से इस प्रसंग को धर्म-प्रसंग कहेंगे। वह बीमार थे। मुझे तो कुछ खबर न थी, किंतु एक मित्र ने खबर दी कि स्वामीजी भाग्य से ही बच जायं तो बच जायं। पीछे से मेरे तार के उत्तर में उनके लड़के का तार मिला कि उन्हें धीरे-धीरे आराम हो रहा है। यह भी मालूम हुआ कि डाक्टर अंसारी बहुत

---

[1] हिंदी नवजीवन, २३-१२-२६

अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं। इस प्रकार की गभीर बीमारी मे वह बिछौने पर पडे थे और उसपर ही उनके प्राण लिये गये। मरना तो सबको है, किंतु यो मरना किस काम का ! सारे हिंदुस्तान में और पृथ्वी पर जहा-जहा हिंदुस्तानी लोग होगे, वहा-वहा स्वामीजी के, स्वाभाविक बीमारी से, मरने से जो असर होता उसकी अपेक्षा इस अपूर्व मरण से अजीब ही असर होगा। मैंने भाई इद्र को समवेदना का एक भी तार या पत्र नही लिखा है। उन्हें और कुछ दूसरा कह ही नही सकता। इतना ही कह सकता हू कि तुम्हारे पिता को जो मृत्यु मिली है, वह धन्य मृत्यु है।

किंतु यह सब बात तो मैंने स्वामीजी की दृष्टि से, मेरी अपनी दृष्टि से की है। मै अनेक बार कह चुका हू कि मेरे लेखे हिंदू और मुसलमान दोनो ही एक है। मै जन्म से हिंदू हू और हिंदू-धर्म मे मुझे शांति मिलती है। जब-जब मुझे अशांति हुई, हिंदू-धर्म मे से ही मुझे शांति मिली है। मैने दूसरे धर्मो का भी निरीक्षण किया है और इसमें चाहे जितनी कमिया और त्रुटिया होवे तो भी मेरे लिए यही धर्म उत्तम है। मुझे ऐसा लगता है और इसीसे मै अपनेको सनातनी हिंदू मानता हू। कितने ही सनातनियो को मेरे इस दावे से दु ख होता है कि विलायत से आकर यह सुधरा हुआ आदमी हिंदू कैसा ! किंतु मेरा हिंदू होने का दावा इससे कुछ कम नही होता और यह धर्म मुझे कहता है कि मै सबके साथ मित्रता से रहू। इसीसे मुझे मुसलमानो की दृष्टि भी देखनी है।

मुसलमान की दृष्टि से जब इस बात का विचार करता हू तो मुझे दूसरी ही बात मालूम पडती है। यह कांड मुसलमान के हाथ बन पडा, धर्म-चर्चा के बहाने घर मे प्रवेश करके उसने यह कृत्य किया। नौकर ने तो कहा, "स्वामीजी बीमार है। आज नही मिल सकते।" दरवाजे पर हुज्जत हुई। स्वामीजी ने सुनकर कहा, "अच्छा है, आ जाने दो।" और स्वामीजी मे उससे बात करने की शक्ति न रहने पर भी उन्होने बाते की। बात करने की तो उनमे ताकत ही नही थी। स्वामीजी को तो उसे समझाकर विदा

कर देने को था, इसलिए बुलाकर कहा, "भाई, अच्छे हो जाने पर तुम्हे जितनी बहस करनी हो कर लेना, किंतु आज तो बिछौने पर पड़ा हूं ।" इसपर उसने पानी मागा । धर्मसिह को स्वामीजी ने आज्ञा दी, "इनको पानी पिला दो ।" आज्ञाकारी नौकर पानी लेने जाता है, तबतक तो यहां उसने रिवाल्वर निकाल ली । एक से संतोष न हुआ तो दो गोली मारी । स्वामीजी ने उसी समय प्राण खोये । धर्मसिह आवाज सुनकर अपने मालिक को बचाने दौडा, किंतु बचावे कौन ? ईश्वर को स्वामीजी के शरीर की रक्षा नही करनी थी ।

हमारे लिए यह एक अच्छा शिक्षा-पाठ बनना चाहिए कि स्वामीजी का खून अब्दुलरशीद के हाथों हो । इससे हम एक-दूसरे को समझ ले । . . .

श्रद्धानंदजी और मेरे बीच कैसा संबध था, वह तो आज मैं यहां नही कहूंगा । मेरे सामने वह अपने दिल की बाते कहा करते थे । कोई छ. महीने हुए जब वह आश्रम मे आये थे तब कहते थे, "मेरे पास धमकी के कितने पत्र आते है । लोग धमकी देते है कि तुम्हारी जान ले ली जायगी, पर मुझे उनकी कुछ परवा नही ।" वह तो बहादुर आदमी थे । उनसे बढ़कर बहादुर आदमी मैंने ससार मे नही देखा । मरने का उन्हे डर नही था, क्योकि वह सच्चे आस्तिक, ईश्वरवादी आदमी थे । इसीसे उन्होने कहा—मेरी जान अगर ले ही ली जाय तो उसमे होना ही क्या है ?[1]

•

स्वामीजी से मेरा पहला परिचय तब हुआ जब वह महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे । वह परिचय भी पत्रो से हुआ । उस समय वह कांगडी गुरुकुल के प्रधान थे, जोकि उनका सबसे पहला और बड़ा शिक्षा-क्षेत्र का काम है । वह सिर्फ पश्चिमी शिक्षा-पद्धति से ही संतुष्ट न थे । लड़को मे वे वेद-शिक्षा का प्रचार करना

---

[1] हिंदी नवजीवन, ६–१–२७

चाहते थे और वह पढाते थे हिदी के जरिए, अग्रेजी के नही। शिक्षा-काल मे वह उन्हे ब्रह्मचारी रखना चाहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियो के लिए उस समय जो धन इकट्ठा किया जा रहा था, उसमे चदा देने के लिए लडको को उन्होने उत्साहित किया था। वह चाहते थे कि लडके खुद कुली बनकर, मजदूरी करके चदा दे, क्योकि वह युद्ध क्या कुलियो का नही था ? लडको ने यह सब पूरा कर दिखाया और पूरी मजदूरी कमाकर मेरे पास भेजी। इस विषय मे स्वामीजी ने मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिदी मे था। उन्होने मुझे 'मेरे प्रिय भाई' कहकर लिखा था। इसने मुझे महात्मा मुशीराम का प्रिय बना दिया। इससे पहले हम दोनो कभी मिले नही थे।

हम लोगो के बीच के सूत्र ऐड्रचूज थे। उनकी इच्छा थी कि जब कभी मै देश लौटू, उनके तीनो मित्रो, कवि ठाकुर, प्रिसिपल रुद्र और महात्मा मुशीराम से परिचय प्राप्त करू।

वह पत्र पाने के बाद से हम दोनो एक ही सेना के सैनिक बन गये। उनके प्रिय गुरुकुल मे हम १९१५ मे मिले और उसके बाद से हरेक मुलाकात मे हम दोनो परस्पर निकट आते गये और एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे। प्राचीन भारत, सस्कृत और हिदी के प्रति उनका प्रेम असीम था। बेशक, असहयोग के पैदा होने के बहुत पहले से ही वह असहयोगी थे। स्वराज के लिए वह अधीर थे। अस्पृश्यता से वह नफरत करते थे और अस्पृश्यो की स्थिति ऊची करना चाहते थे। उनकी स्वाधीनता पर कोई बधन लगाना वह नही सह सकते थे।

जब 'रौलट ऐक्ट' का आदोलन शुरू हुआ तो उसे सबसे पहले शुरू करनेवालो मे से वह थे। उन्होने मुझे बहुत ही प्रेम से भरा हुआ एक पत्र भेजा। किंतु वीरमगाम और अमृतसर-काड के बाद सत्याग्रह को स्थगित किया जाना वह नही समझ सके। उस समय से हमारे बीच मतभेद शुरू हुए, किंतु उससे हम लोगो के भाई-भाई के सबध मे कभी कोई अतर नही पड़ा। उस मतभेद

से मुझपर उनका बाल-सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किये बिना ही, उन्हे जैसा मालूम था मुझसे सच्ची बात कह दी। वह अतिसाहसिक थे। समय बीतनेके साथ-साथ हम दोनों मे जो स्वभाव का अतर था, उसे मै देखता गया, किंतु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई। सबको सुनाकर विचार करना कुछ पाप नही है। यह तो एक गुण है। यह सत्य-प्रियता का सर्वप्रधान लक्षण है। स्वामीजी ने अपने विचार गुप्त रखे ही नही।

वारडोली के निश्चय से उनका दिल टूट गया। मुझसे वह निराश हो गये। उनका प्रकट विरोध बहुत जबर्दस्त था। मेरे नाम उनके निजी पत्रो मे और भी विरोध होता था, किंतु हमारे मतभेद पर जितना वह जोर देते थे, प्रेम पर भी उतना ही। प्रेम का विश्वास केवल पत्रो मे ही दिला देने से वह संतुष्ट न थे। मौका मिलने पर उन्होने मुझे ढूढ निकाला और मुझे अपनी स्थिति समझाई और मेरी समझने की कोशिश थी। मगर मुझे मालूम होता है कि मुझे ढूढने का असल कारण यह था कि अगर जरूरत हो तो मुझे वह विश्वास दिला सके कि एक छोटे भाई के समान मुझपर उनकी प्रीति जैसी-की-तैसी बनी हुई है।

आर्यसमाज और उसके सस्थापक पर मेरे मतो से और उनके नाम का उल्लेख करने से उन्हे बहुत कष्ट हुआ, परंतु इस धक्के को सह लेने की शक्ति हमारी मित्रता मे थी। वह यह नही समझ सकते थे कि महर्षि के विषय मे मेरे मतो और अपने व्यक्तिगत शत्रुओं के प्रति ऋषि की असीम क्षमा का एक साथ कैसे मेल बैठ सकता है। महर्षि मे उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उनपर या उनकी शिक्षाओ पर कोई भी टीका वह सह नही सकते थे।

शुद्धि-आदोलन के लिए मुसलमान पत्रो मे उनकी बड़ी कड़ी आलोचनाएं और निदा की गई है। मै स्वय उनके दृष्टि-बिदु को स्वीकार नही कर सका था। अब भी मै उसे नही मानता। किंतु मेरी नजर मे, अपने दृष्टि-बिंदु से वह, अपनी स्थिति का पूरा बचाव

करते थे, जबतक शुद्धि और तबलीग मर्यादा के भीतर रहे, तब तक दोनो ही बराबर छूट के अधिकारी है।

. . . अगर हम हिंदू और मुसलमान दोनो शुद्धि का आतरिक अर्थ समझ सकते तो स्वामीजी की मृत्यु से भी लाभ उठाया जा सकता था।

एक महान सुधारक के जीवन के स्मरणो को मै सत्याग्रहाश्रम में, उनके कुछ महीनो पहले के आखिरी आगमन की बात के बिना खत्म नही कर सकता। वह मुसलमानो के दुश्मन नही थे। कुछ मुसलमानो का विश्वास वह बेशक नही करते थे, किंतु उन लोगो से उनका कुछ द्वेष नही था। उनका खयाल था कि हिंदू दबा दिये गये है और उन्हे बहादुर बनकर अपनी और अपनी इज्जत की रक्षा करने योग्य बनना चाहिए। इस बारे मे उन्होने मुझसे कहा था कि "मेरे विषय में बडी गलतफहमी फैली हुई है। मेरे विरुद्ध कही जानेवाली कई बातों मे मै बिल्कुल निर्दोष हू। मेरे पास धमकी के कितने एक पत्र आया करते है।" मित्रगण उन्हे अकेले चलने से मना करते थे। मगर यह परम आस्तिक पुरुष उनका जवाब दिया करता था, "ईश्वर की रक्षा के सिवाय और किस रक्षा का मै भरोसा करू? उसकी आज्ञा के बिना एक तिनका भी नही हिलता। मै जानता हू कि जबतक वह मुझसे इस देह के द्वारा सेवा लेना चाहता है, मेरा बाल बाका नही हो सकता।"

आश्रम मे रहते समय उन्होने आश्रम-पाठशाला के लडके-लडकियो से बातें की। उनका कहना था कि हिंदू-धर्म की सबसे बडी रक्षा आत्म-शुद्धि से ही होगी, भीतर से ही होगी। चारित्र्य और शरीर के गठन के लिए ब्रह्मचर्य पर वह बहुत जोर देते थे।[1]

.. ..

वीर पुरुष को जब ऐसी मृत्यु मिलती है तो वह उसे

---

[1] हिंदी नवजीवन, ६-१-२७

मित्र के समान गले लगाता है। किंतु इससे कोई यह नही चाहता कि उसका कोई खून करे। कोई भी अपने साथ अन्याय करे, गुनहगार वने, कोई भी मनुष्य दुष्कृत्य करे, ऐसी इच्छा ही करना अनुचित है।

स्वामीजी वीरो के अग्रणी थे। अपनी वीरता से उन्होने भारत को आश्चर्य-चकित कर दिखाया। इसका साक्षी मै हू कि देश के लिए अपना शरीर कुर्बान करने की उन्होने प्रतिज्ञा ली थी। वह अनाथ-बधु थे। अछूतो के लिए उन्होने जितना किया उससे अधिक हिंदुस्तान मे दूसरे किसीने नही किया। उनकी दूसरी सेवाओ का वर्णन मै यहा करना नही चाहता। स्वामीजी के जैसे वीर, देशभक्त, ईश्वर के अनन्यभक्त और सेवक का खून देश के लिए जैसा लाभदायक है, वैसा ही, उसे दु.ख होना भी स्वाभाविक है, क्योकि हम लोग अपूर्ण मनुष्य है।

....स्वामीजी आत्म-वलिदान से दूसरा ही धर्म वतला गये है। उन्होने एक बार मुझसे पूछा था कि आर्यसमाज उदार कैसे नही? आप क्या जानते है कि महर्षि दयानद ने अपनेको जहर देनेवाले के साथ क्या किया था। मैने जवाब दिया कि मै महर्षि की क्षमाशीलता को जानता हू। मगर स्वामीजी तो महर्षि के भक्त थे। उन्होने सारी कथा कह सुनाई। महर्षि क्षमाशील थे, क्योकि उनके आगे युधिष्ठिर का उज्ज्वल उदाहरण था। वह उपनिषदो के भक्त थे। श्रद्धानदजी भी वैसे ही क्षमाशील थे। शुद्धि पर वाते करते समय उन्होने एक वार कहा था कि "मै मुसलमानो को हिंदुओ का दुश्मन नही मानता।" 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धात का उपदेश करने वाले और गीता के भक्त श्रद्धानदजी किसीको दुश्मन क्योकर मान सकते थे? उन्होने कहा, "मै मुसलमानो को भाई मानता हू, मित्र मानता हू, किंतु हिंदू को भी भाई मानता हूं और उसकी सेवा करना चाहता हू।"

आज श्रद्धानदजी के लिए आंसू वहाने का समय नही है।

आज तो क्षत्रियता बताने का अवसर है। क्षत्रियता क्षत्रिय का खास गुण भले ही हो मगर ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सभी उसे दिखा सकते है। खासकर आज का 'स्वराज युग' हम सबके लिए क्षत्रियता का युग है। इसलिए रोने की बात छोड दे और श्रद्धानदजी के बलिदान से, रशीद के किये खून से जो पाठ मिले उसे हृदय मे धरे।[1]

... . .

स्वामीजी का देहात हुआ ही नही है। देहात तो तब होगा जब हम उनकी सच्ची देह को मिटाने की कोशिश करेगे। अगर्चे कि सच्ची बात तो यह है कि हमारी कोशिश से भी उनकी देह का नाश होने को नही है। जबतक यह गुरुकुल कायम है, जबतक एक भी स्नातक गुरुकुल की सेवा करता है, तबतक स्वामीजी जीते ही है। स्वामीजी का शरीर तो किसी दिन गिरने को था ही। पर स्वामीजी का सबसे बडा काम गुरुकुल है, उन्होने अपनी सारी शक्ति इसमे लगा दी थी। इसे पैदा करने मे उन्होने अधिक-से-अधिक तपश्चर्या की थी। तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है। अगर तुम अपने वचन का पालन करोगे तो किसीकी शक्ति नही कि वह गुरुकुल को मिटा दे।

पर गुरुकुल को चिरस्थायी रखने के लिए उस वीरता, ब्रह्मचर्य और क्षमा की जरूरत है, जो हमने उनके जीवन मे देखी। वीरता का लक्षण क्षमा, और ब्रह्मचर्य और वीर्य का सयम है। वीरता और वीर्य की रक्षा से तुम देश और धर्म की पूरी-पूरी रक्षा कर सकोगे। मै जानता हू कि यह काम मुश्किल है। तुम्हारे यहा के बहुत-से विद्यार्थियो के पत्र मेरे पास पडे हुए है। कोई मेरी स्तुति करता है तो कोई गाली देते है। स्तुति तो नाकाम चीज है। उसका असर मेरे ऊपर नही होता। परतु जब विद्यार्थी चिढकर गाली देते है तो मुझे चिता होती है क्योकि क्रोध से वीर्य का नाश

---

[1] हिंदी नवजीवन, १३-१-२७

होता है। स्वामीजी के सामने मैने ब्रह्मचर्य की अपनी व्याख्या रखी थी और वह मेरे साथ सम्मत थे। किसी स्त्री का मलिन स्पर्श न करने मे ही ब्रह्मचर्य नही होता। हा, ब्रह्मचर्य वहां से शुरू जरूर होता है। पर क्षमा की पराकाष्ठा ब्रह्मचर्य का लक्षण है। पिछले साल स्वामीजी जब टकारिया से लौटते समय मुझसे मिलने गये थे तो उन्होने मुझसे कहा कि 'हिंदूधर्म की रक्षा-नीति से ही सभव है।' अगर तुम वैदिक आचार और विचार की रक्षा करना चाहते हो तो तुम यह वस्तु याद रखो कि तुम्हे पग-पग पर रुपये मिल जायगे, मगर ब्रह्मचर्य का, नीति का पाया यहापर न होगा तो तुम्हारा गुरुकुल मिट्टी मे मिल जायगा इस भूमि के तो आत्मा नही है। इसकी आत्मा तुम्ही हो। अगर तुम आत्म-बल खो दोगे और 'उदरनिमित्त बहुकृतवेष' जैसे बन जाओगे तो तुम्हारी सारी शिक्षा बेकार जायगी।

मै आज तुम्हारे आगे चर्खा और खादी की बात करने नही आया हू। तुम्हारा पहला काम ब्रह्मचर्य और वीरता का—क्षमा का है। उसे भूल जाओगे तो स्वामी जी का नाम कायम नही रहेगा। रशीद की गोली से स्वामीजी का क्या हुआ? वह तो उस गोली से ही अमर हुए।

स्वामीजी का दूसरा काम अछूतोद्धार था। जिन शब्दो में मालवीयजी ने खादी की वकालत की, मै नही कर सकता। पर इतना जरूर कहूगा कि अगर हम हमेशा गरीबों और अछूतो की फिक्र रखेगे तो खादी से अलग नही रह सकते।

ईश्वर तुम सबके ब्रह्मचर्य, सत्य और तुम्हारी प्रतिज्ञाओ की रक्षा करे, गुरुकुल का कल्याण करे और स्वामीजी का हरेक काम परमात्मा चालू रखे![1]

---

[1] हिंदी नवजीवन, ३१-३-२७

: २६ :

श्रीनिवास शास्त्री

दक्षिण अफ्रीका-निवासी भारतीयो को यह सुनकर बड़ी तसल्ली होगी कि माननीय शास्त्री ने पहला भारतीय राजदूत बनकर अफ्रीका मे रहना स्वीकार कर लिया है, बशर्ते कि सरकार वह स्थान ग्रहण करने के प्रस्ताव को आखिरी बार उनके सामने रखे। भारत-सेवक-समिति और शास्त्रीजी ने यह बड़ा ही त्याग किया है, जो वह इस निर्णय पर पहुचे है। यह तो एक प्रकट रहस्य है कि यदि यह प्रस्ताव नहीं किया जाता तो वह भारत में अपना काम छोडकर इस जिम्मेदारी को अपने सिर पर लेने के जरा भी इच्छुक नही थे। परंतु जब उनसे साग्रह यह अनुरोध किया गया कि वह ही एक ऐसे आदमी है, जो उस समझौते के अनुसार कार्य शुरू कर सकते है, जिसके स्वीकृति कराने मे उनका बहुत भारी हाथ रहा है, तो उन्हे इस प्रार्थना और आग्रह को मजूर करना ही पडा। दक्षिण अफ्रीका से समय-समय पर जो तार भेजे गये थे उनसे हमे पता चलता है कि वहा के अग्रेज भी इस बात के लिए कितने उत्सुक थे कि शास्त्रीजी ही इस सम्माननीय पद को ग्रहण करे। शास्त्रीजी की वक्तृत्व-शक्ति, निस्पृहता, मधुर विवेक-शीलता और असीम सचाई ने यूनियन सरकार और वहा के यूरोपीय लोगो के हृदय मे उनके लिए चाह और आदर उत्पन्न कर दिया, जब वह हबीबुल्ला-शिष्टमडल के साथ कुछ दिन के लिए दक्षिण अफ्रीका गये थे। मै खुद जानता हू कि हमारे दक्षिण अफ्रीका-निवासी भाई इस बात के लिए कितने असीम चितातुर थे कि किस प्रकार शास्त्रीजी ही, वहा भारत के पहले राजदूत बनकर जायं। और श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्रीजी के लिए भी तो, जिन्हे परमात्मा ने ऐसे उदार हृदय से भूषित किया है, ऐसे सर्वसम्मत अनुरोध को अस्वीकार करना असभव था। अब यह प्राय निश्चित है कि शीघ्र

ही उनकी बाकायदा नियुक्ति होकर, उसकी खबर प्रकाशित कर दी जायगी।

इन पहले राजदूत का काम भी उनके लिए निश्चित कर दिया जायगा। निस्संदेह, यूनियन सरकार और हमारे दक्षिण अफ्रीका के भारतीय भाई भी भारत के इस पहले राजदूत से बडी-बड़ी आशाए तो करते ही होगे। चूंकि शास्त्रीजी स्वय भारतीय और एक विख्यात पुरुष है, निस्सदेह यूनियन सरकार जरूर यह सोचती होगी कि जहांतक भारतीयों से संबध है, उन्हे समझा-बुझाकर शास्त्रीजी सरकार के प्रस्तावों आदि का काम सरल कर देगे। दूसरे शब्दो मे यो कहिये कि यूनियन सरकार उनसे आशा करती है कि शास्त्रीजी उसकी बातो को भारतीय समाज तथा भारत-सरकार के सामने सहानुभूति-पूर्वक रखेगे। इधर भारतीय समाज भी आशा करता है कि शास्त्रीजी इस बात का जरूर आग्रह करेंगे कि समझौते का सम्मानयुक्त, बल्कि उदारता-पूर्वक पालन हो। दो प्रतिस्पर्धी उम्मीदवारो को संतुष्ट करना यो कठिन तो है ही; पर दक्षिण अफ्रीका मे, जहा कि जातियो और दलो के स्वार्थों में आश्चर्यजनक पारस्परिक विरोध है, यह काम कही अधिक मुश्किल है। किंतु मै जानता हू कि अगर इस सूक्ष्म तराजू को अपने हाथ मे कोई उठा सकता है और दक्षिण अफ्रीका से सबंध रखनेवाले सभी दलो को संतुष्ट कर सकता है तो अकेले शास्त्रीजी ही एक ऐसे आदमी है। मेरा खयाल है कि यूनियन सरकार के मंत्री यह तो अपेक्षा नही रखते होगे कि भारतीय समाज को उसके न्याय्य स्वत्वो को दिलाने मे शास्त्रीजी इंच भर भी पीछे हट जायं। हां, अधिक-से-अधिक शास्त्रीजी यह कर सकते है कि वह भारतीयो को १९१४ के समझौते का उल्लंघन करके आगे बढ़ने से रोके, कम-से-कम तबतक तो जरूर रोके, जबतक कि वहां के भारतीय अनुकरणीय आत्मसंयम और अपने अन्य व्यवहार द्वारा १९१४ में प्राप्त किये समझौते से आगे बढने की अपनी पात्रता को सिद्ध नहीं कर देते। अतः यदि इस दक्षिण अफ्रीका के हमारे भारतीय भाई

भारत के प्रतिनिधि के काम को सरल और अपनी परिस्थिति को सुरक्षित कर लेना चाहे तो वे उनसे बडे-बडे चमत्कारो की आशाए करना छोड दे। उनका यह अनुमान गलत होगा कि "चूकि हम अभी एक सम्माननीय समझौता करा चुके है और उसपर अमल कराने के लिए भारत का एक महान पुरुष हमारे यहा आ रहा है, इसलिए अब तो हमारी परिस्थिति मे एकदम कायापलट हो जायगा।" उन्हे याद रखना चाहिए कि माननीय शास्त्रीजी वहा उनके वकील बनकर, उनके प्रत्येक व्यक्तिगत शिकायत के लिए लडने को नही जा रहे है। उनको मामूली व्यक्तिगत शिकायते सुना-सुनाकर परेशान करना उस सोने के अडे देनेवाले पक्षी की हत्या करने के समान है। वह तो वहा भारतीय सम्मान के रक्षक बनकर जा रहे है। सर्वसाधारण भारतीय समाज के स्वत्व और स्वाधीनता की रक्षा के लिए वह वहा जा रहे है। शास्त्रीजी वहा यह देखने के लिए जा रहे है कि यूनियन सरकार कही कोई नवीन रुकावटी कानून न बनाने पाये। अलावा इसके वह देखेगे कि वर्तमान कानूनो का पालन उदारता-पूर्वक तो हो रहा है। उनके पालन मे भारतीयो के स्वत्वो को कोई हानि तो नही हो रही है, आदि। अत यदि उनसे कोई व्यक्तिगत शिकायत की भी जाय तो वह किसी व्यापक सर्वसाधारण नियम का उदाहरण-स्वरूप हो। इस लिए यदि व्यक्तिगत मामलो मे शास्त्रीजी की सहायता मागने मे दक्षिण अफ्रीका का भारतीय समाज दूरदर्शी सयम से काम न लेगा तो वह उनकी परिस्थिति को असह्य और उस महान् उद्देश्य के लिए उन्हे असमर्थ बना देगा जिसके लिए वह वहा विशेष रूप से भेजे गये है। और सचमुच एक राजदूत की उपयोगिता केवल यही समाप्त नही हो जाती कि वह केवल सरकारी पद से सबध रखनेवाले अपने कर्तव्य का पालनभर कर ले, बल्कि उसकी वह अप्रत्यक्ष सेवा कही अधिक उपयोगी है जो सरकारी तथा गैरसरकारी कामो को लेकर उससे मिलने-जुलनेवाले लोगो पर उसके मिलनसार स्वभाव और सच्चरित्र के प्रभाव द्वारा होती है। अत. यदि

हमारे देशभाई शास्त्रीजी के दिमागी और हृदय के महान गुणों का उपयोग करना चाहे तो वे मेरी बताई उपर्युक्त मर्यादाओ का जरूर खयाल रखे ।[१]

... ...

...इस सप्ताह में मिले पत्र मे एक सज्जन ने क्लर्कस्डोप की प्रसिद्ध घटना का, जिसके बारे मे दक्षिण अफ्रीका के अखबारो के पन्ने-के-पन्ने भरे रहते हैं, आंखो देखा सच्चा वर्णन किया है। यूनियन सरकार के नि:संकोच पूरी और स्पष्ट माफी माग लेने से यद्यपि इस घटना पर राजनैतिक दृष्टि से अब कुछ भी कहना बाकी नहीं रह जाता है और न कुछ कहने की जरूरत ही है तो भी इस षडयंत्र के सामने जिसका कि परिणाम श्री शास्त्रीजी के लिए प्राणात भी हो सकता था, उन्होंने जो उदारता और हिम्मत का व्यवहार किया है उसकी प्रशसा कितनी ही क्यों न की जाय वह कम ही होगी। मेरे सामने जो पत्र है उससे मालूम होता है कि जिस सभा मे वह व्याख्यान दे रहे थे, उसको तोड़ देने के लिए डेप्टीमेयर के नेतृत्व मे जो दल आया था उसने बत्तिया बुझा दी, फिर भी वह भारत माता का सच्चा सपूत और प्रतिनिधि अपने स्थान पर यत्किंचित् भी घबडाये बिना डटा रहा, जरा भी न हटा और जब भड़ाका होने के कारण सभा के हाल मे श्रोताओं को सांस लेना भी मुश्किल हो गया तब वह बाहर गये और वहां, जैसे कोई बात ही नही हुई हो, इस घटना के प्रति इशारा तक न करते हुए उन्होंने अपना व्याख्यान पूरा किया। यों तो इस घटना के पहले ही दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनो में वह प्रिय हो गये थे; परतु शास्त्रीजी के इस धीर हिम्मतभरे और उदार आचरण ने वहां के यूरोपियनों के विचार में उन्हे और भी अधिक गौरवान्वित कर दिया है और क्योकि उन्हे अपने लिए यश नही चाहिए था (शास्त्रीजी से अधिक कीर्त्ति से लजानेवाले मनुष्य कदाचित् ही मिल सकेंगे) उन्होने,

---

[१] हिंदी नवजीवन, २८-४-२७

जिस काम के वह प्रतिनिधि थे, उसके लाभ मे अपनी लोकप्रियता का बडी योग्यता और सफलता-पूर्वक उपयोग किया। दक्षिण अफ्रीका मे उनके बहुत ही थोडे समय के निवास मे उन्होने अपने देशवासियो का गौरव बहुत बढा दिया है। हम यह आशा करे कि वहां के भारतीय अपने आदर्श व्यवहार से अपनेको उस गौरव के योग्य प्रमाणित करेगे।

परतु दक्षिण अफ्रीका के मुश्किल और नाजुक प्रश्न को हल करने मे उनके कार्य का महत्व केवल इसीपर, जो एक घटना-मात्र है, निर्भर नही है। हम उनके दफ्तर की भीतरी कार्यवाही के विषय मे, सिवा उनके परिणामो के कुछ नही जानते। पर इसमे उन्हे उस सारी राजनीति-कला का उपयोग करना पडता था जो अपने पक्ष के सत्य होने के विश्वास से प्राप्त होती है तथा जो झूठ, कपट तथा नीचता को कभी बरदाश्त नही कर सकती। परतु हम यह जरूर जानते है कि सस्कृत और अंग्रेजी की अपार विद्वता और जुदा-जुदा विषयो का ज्ञान, वाक्यपटुता इत्यादि कुदरत से प्रचुरता मे मिली हुई बख्शीशो को अपने कार्य के लिए उपयोग करने मे उन्होने कोई कसर नही की है। चुनदा यूरोपियनो के बड़े श्रोतृ-समूह के आगे वह भारतीय तत्वज्ञान और सस्कृति पर व्याख्यान देते थे, जिससे उनके दिलो पर बडा असर होता था और उस पक्ष-पात के परदे को, जिसके कारण यूरोपियनो का बड़ा समूह अबतक भारतीयो मे कोई गुण ही नही देख सकता था, उन्होने पतला कर दिया है। दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो के प्रश्न मे, ये व्याख्यान ही शायद उनका सबसे बडा और अधिक स्थायी हिस्सा है।[1]

... ...

मौत ने न सिर्फ हमारे बीच से, बल्कि समूची दुनिया के

---

[1] हिंदी नवजीवन, १८-१०-२८

बीच से भारत-माता के एक बड़े-से-बडे सपूत को उठा लिया है। उनके परिचय मे आनेवाला हरकोई देख सकता था कि वह हिंदुस्तान को बहुत ही प्यार करते थे। पिछले दिनो जब मै उनसे मद्रास मे मिला था, उन्होने सिवा हिंदुस्तान और उसकी संस्कृति के, जिनके लिए वह जीये और मरे, दूसरी किसी बात की चर्चा ही नही की। जब वह मृत्यु-शय्या पर पडे दीखते थे, तब भी मुझे विश्वास है कि उनको अपनी कोई चिंता नही थी। उनका संस्कृत-ज्ञान अंग्रेजी के उनके अगाध ज्ञान से ज्यादा नही तो कम भी न था। मुझे एक ही बात और कहनी है और वह यह कि अगरचे राजनीति मे हमारे खयाल एक-दूसरे से मिलते नही थे, तो भी हमारे दिल एक ही थे और मै यह कभी सोच नही सकता कि उनकी देशभक्ति हमारे किसी बड़े-से-बड़े देशभक्त से कम थी। शास्त्रीजी जिंदा है, यद्यपि उनका नामधारी शरीर भस्म हो चुका है।[१]

: २७ :

नारायण हेमचंद्र

स्वर्गीय नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। मै सुन चुका था कि वह एक अच्छे लेखक है। नेशनल इंडियन एसोसिएशनवाली मिस मैनिग के यहा उनसे मिला। मिस मैनिग जानती थी कि सबसे हिल-मिल जाना मै नही जानता। जब कभी मै उनके यहां जाता तब चुपचाप बैठा रहता। तभी बोलता, जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होने नारायण हेमचंद्र से मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचंद्र अंग्रेजी नही जानते थे। उनका पहनावा

[१] हरिजन सेवक, २१-४-४६

विचित्र था। बेढगी पतलून पहने थे। उसपर था एक बादामी रग का मैला कुचैला-सा पारसी काट का बेडौल कोट। न नेकटाई, न कालर। सिर पर ऊन की गुथी हुई टोपी और नीचे लबी दाढी।

बदन इकहरा, कद नाटा कह सकते है। चेहरा गोल था, उसपर चेचक के दाग थे। नाक न नोकदार थी, न चपटी। हाथ दाढी पर फिरा करता था।

वहा के लाल-गुलाल फैशनेबल लोगो मे नारायण हेमचद्र विचित्र मालूम होते थे। वह औरो से अलग छटक पड़ते थे।

"आपका नाम तो मैने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढे है। आप मेरे घर चलिये न ?"

नारायण हेमचद्र की आवाज जरा भर्राई हुई थी। उन्होने हंसते हुए जवाब दिया—

"आप कहा रहते है ?"

"स्टोर स्ट्रीट मे।"

"तब तो हम पडोसी है। मुझे अंग्रेजी सीखना है। आप सिखा देगे ?"

मैने जवाब दिया—"यदि मै किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकू तो मुझे बडी खुशी होगी। मै अपनी शक्ति भर कोशिश करूगा। यदि आप चाहे तो मै आपके यहां भी आ सकता हू।"

"जी नही, मै खुद ही आपके पास आऊगा। मेरे पास पाठ-माला भी है। उसे लेता आऊंगा।"

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनो में बड़ा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचद्र व्याकरण जरा भी नही जानते थे। 'घोडा' क्रिया और 'दौडा' सज्ञा बन जाती है। ऐसे मजेदार उदाहरण तो मुझे कई याद है। परतु नारायण हेमचद्र ऐसे थे, जो मुझे भी हजम कर जाय। वह मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञान से अपनेको भुला देनेवाले जीव न थे। व्याकरण न जानने पर वह किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

"मै आपकी तरह किसी पाठशाला मे नही पढा हू । मुझे अपने विचार प्रकट करने मे कही व्याकरण की सहायता की जरूरत नही दिखाई दी। अच्छा, आप बगला जानते है ? मै तो बगला भी जानता हू । मै बंगाल मे भी घूमा हू । महर्षि देवेद्रनाथ टैगोर की पुस्तको का अनुवाद तो गुजराती जनता को मैने ही दिया है। अभी कई भाषाओ के सुदर ग्रथों के अनुवाद करने है । अनुवाद करने मे भी शब्दार्थ पर नही चिपटा रहता। भावमात्र दे देने से मुझे संतोष हो जाता है । मेरे बाद दूसरे लोग चाहे भले ही सुदर वस्तु दिया करे । मै तो बिना व्याकरण पढे मराठी भी जानता हू, हिदी भी जानता हू और अब अग्रेजी भी जानने लग गया हू । मुझे तो सिर्फ शब्द-भडार की जरूरत है । आप यह न समझ ले कि अकेली अग्रेजी जान लेने भर से मुझे सतोष हो जायगा। मुझे तो फ्रास जाकर फ्रेंच भी सीख लेनी है। मै जानता हू कि फ्रेच साहित्य बहुत विशाल है। यदि हो सका तो जर्मन जाकर जर्मन भाषा भी सीख लूगा।"

इस तरह नारायण हेमचद्र की वाग्धारा बे-रोक बहती रही। देश-देशातरो मे जाने व भिन्न-भिन्न भाषा सीखने का उन्हे असीम शौक था।

"तब तो आप अमेरिका भी जरूर ही जावेगे।"

"भला इसमे भी कोई सदेह हो सकता है। इस नवीन दुनिया को देखे बिना कही वापस लौट सकता हूं।"

"पर आपके पास इतना धन कहा है ?"

"मुझे धन की क्या जरूरत पड़ी है ? मुझे आपकी तरह तडक-भड़क तो रखना है ही नही। मेरा खाना कितना और पहनना क्या ? मेरी पुस्तको से कुछ मिल जाता है और थोडा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते है, वह काफी हैं। मै तो सर्वत्र तीसरे दर्जे मे ही सफर करता हू। अमेरिका तो डेक मे जाऊंगा।"

नारायण हेमचंद्र की सादगी बस उनकी अपनी थी। हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था। अभिमान छू तक नही गया था।

लेखक के नाते अपनी क्षमता पर उन्हें आवश्यकता से भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था। दोनों अन्नाहारी थे। दोपहर को कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मैं प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंग मे ही अपना गुजरा करता और खाना खुद पकाया करता था। कभी मैं उनके मकान पर जाता तो कभी वह मेरे मकान पर आते। मैं अंग्रेजी ढंग का खाना पकाता था, उन्हें देशी ढंग के बिना संतोष नही होता था। उन्हें दाल जरूरी थी। मैं गाजर इत्यादि का रसा बनाता। इसपर उन्हें मुझपर बड़ी दया आती। कही से वह मूंग ढूंढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये, जो मैंने बड़ी रुचि-पूर्वक खाये। फिर तो हमारा इस तरह का देने-लेने का व्यवहार बहुत बढ गया। मैं अपनी चीजों का नमूना उन्हें चखाता और वह मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मैंनिंग का नाम सबकी जबान पर था। डाक के मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। जानबर्स और कार्डिनल मैंनिंग के प्रयत्नों से हड़ताल जल्दी बंद हो गई। कार्डिनल मैंनिंग की सादगी के विषय मे जो डिसरैलो ने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचंद्र को सुनाया।

"तब तो मुझे उस साधु पुरुष से जरूर मिलना चाहिए।"

"वह तो बहुत बडे आदमी हैं। आपसे क्यों कर मिलेंगे ?"

"इसका रास्ता मैं बता देता हूं। आप उन्हें मेरे नाम से एक पत्र लिखिये कि मैं एक लेखक हूं। आपके परोपकारी कार्यों पर आपको धन्यवाद देने के लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूं। उसमें यह भी लिख दीजिएगा कि मैं अंग्रेजी नही जानता। इसलिए—अपना नाम लिखिए—बतौर दुभाषिए के मेरे साथ रहेंगे।"

मैंने इस मजमून का पत्र लिख दिया। दो-तीन दिन में कार्डिनल मैंनिंग का कार्ड आया। उन्होंने मिलने का समय दे दिया था।

हम दोनो गये। मैंने तो, जैसाकि रिवाज था, मुलाकाती कपड़े पहन लिये। नारायण हेमचंद्र तो ज्यो-के-त्यों, सनातन ! वही कोट और वही पतलून। मैंने जरा मजाक किया, पर उन्होंने उसे साफ हँसी मे उड़ा दिया और बोले—

"तुम सब सुधारप्रिय लोग डरपोक हो। महापुरुष किसीकी पोशाक की तरफ नही देखते। वे तो उसके हृदय को देखते है।"

कार्डिनल के महल में हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठें ही थे कि एक दुबले से ऊंचे कदवाले वृद्ध पुरुष ने प्रवेश किया। हम दोनो से हाथ मिलाया। उन्होने नारायण हेमचद्र का स्वागत किया।

"मै आपका अधिक समय लेना नही चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रखी थी। आपने हड़ताल मे जो शुभ काम किया है, उसके लिए आपका उपकार मानना था। संसार के साधु पुरुषो के दर्शन करने का मेरा अपना रिवाज है। इसलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्यो का तरजुमा करके उन्हे सुनाने के लिए हेमचंद्र ने मुझसे कहा।

"आपके आगमन से मै बडा प्रसन्न हुआ हूं। मै आशा करता हूं कि आपको यहां का निवास अनुकूल होगा और यहां के लोगों से आप अधिक परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करें!" यो कहकर कार्डिनल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचंद्र मेरे यहां धोती और कुरता पहनकर आये। भली मकान-मालिकिन ने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौडकर मेरे पास आई और बोली—"एक पागल-सा आदमी आपसे मिलना चाहता है।" मै दरवाजे पर गया और नारायण हेमचंद्र को देखकर दंग रह गया। उनके चेहरे पर वही नित्य का हास्य चमक रहा था।

"पर आपको लड़को ने नही सताया ?"

"हा, मेरे पीछे पडे जरूर थे, लेकिन मैने कोई ध्यान नही देया तो वापस लौट गये।"

नारायण हेमचद्र कुछ महीने इगलैड मे रहकर पेरिस चले गये। यहा फ्रेच का अध्ययन किया और फ्रेच पुस्तको का अनुवाद करना शुरू कर दिया। मै इतनी फ्रेच जान गया था कि उनके अनुवादो को जाच लू। मैने देखा कि वह तर्जुमा नही, भावार्थ था।

अत मे उन्होने अमेरिका जाने का अपना निश्चय भी निबाहा। बडी मुश्किल से डेक या तीसरे दर्जे का टिकट प्राप्त कर सके थे। अमेरिका मे जब वह धोती और कुरता पहनकर निकले तो असभ्य पोशाक पहनने का जुर्म लगाकर वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। पर जहातक मुझे याद है, बाद मे वह छूट गये।[1]

---

[1] आत्म-कथा, १९२७